सीता ।

[illegible] ACADEMY
Hindi Section
Library No. 884
Date of Receipt 5/12/23

लेखक—

स्व० बाबू द्विजेन्द्रलाल राय ।

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-सीरीजका ३६ वाँ ग्रन्थ ।

सीता ।

Hindi Section
Library No 834
Date of Receipt 15/12/21

[सुप्रसिद्ध नाटककार स्वर्गीय द्विजेन्द्रलालरायके
बंगला नाट्यकाव्यका हिन्दी अनुवाद ।]

अनुवादकर्त्ता
पण्डित रूपनारायण पाण्डेय ।

प्रकाशक,
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई ।

श्रावण १९७९ वि० ।

द्वितीयावृत्ति।] अगस्त १९२२। [मूल्य नौ आने ।

प्रकाशक,
नाथूराम प्रेमी,
हिन्दी-ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई ।

मुद्रक,
श्रीरामकिशोर गुप्त,
साहित्य प्रेस, चिरगाँव (झाँसी)

भूमिका ।

(मूल ग्रन्थकारकी भूमिकाका अनुवाद ।)

यह नाट्य*काव्य बहुत दिन पहले -बँगला सन् १३०९ में— खंड खंड करके 'नवप्रभा' नामके पत्रमें प्रकाशित हुआ था । उस समय इसकी अनेक समालोचनायें अनेक पत्रोंमें निकली थीं । उस समय इस रचनाके सम्बन्धमें जो प्रशंसा प्रकाशित हुई थी, उसके सम्बन्धमें मेरे कुछ अभिमत प्रकट करनेकी जरूरत नहीं है । हाँ, जो प्रतिकूल समालोचनायें निकली थीं, उनके बारेमें कुछ कहना जरूरी जान पड़ता है ।

पहले तो मुझे यह कहना है कि उन प्रतिकूल समालोचनाओंमेंसे जो मत मैंने स्वीकार किये हैं उनके अनुसार इस पुस्तकका संशोधन कर दिया गया है । उन अभिमतोंको प्रकट करने वाले बुद्धिमान् विद्वानोंका मैं सदा कृतज्ञ रहूँगा ।

और, जिनकी आपत्तियाँ मैं स्वीकार नहीं कर सका, उन्हें भी इस काव्य में दोष दिखा देनेके लिए मैं साधुवाद देता हूँ । किन्तु उनके मत को मैं क्यों नहीं ग्रहण कर सका, इसकी कैफियत के तौर पर नीचे अपना वक्तव्य संक्षेपमें प्रकट करता हूँ ।

एक बुद्धिमान् समालोचकने कहा था कि मैंने सीताके चरित्र-माहात्म्यका वर्णन करनेकी धुनमें रामके चरित्र-माहात्म्यको छोटा या कम कर दिया है । पर मेरा विश्वास है कि मैंने ऐसा नहीं किया । महर्षि वाल्मीकिकी रामायणमें जैसा राम-चरित्र वर्णन किया गया है उससे यही प्रतीत होता है कि रामचन्द्रने केवल कुलकी मर्यादा रखनेके लिए सीताको वनवास दिया था । उसके ऊपर, लक्ष्मणको तपोवन दिखानेके बहाने सीताको वनके बीच ले जाकर वहाँ छोड़ आनेकी आज्ञा

---

*मूल नाटक पद्यमें है ।

देनेमें, एक प्रकारकी निष्ठुर छलना भी देख पड़ती है। महाकवि भव-भूतिने इन दोनों स्थलोंमें कहीं भी महर्षि वाल्मीकिका अनुसरण नहीं किया। मैंने वनवासके स्थलमें महाकवि भवभूतिका ही अनुगमन किया है। मेरी समझमें, ऐसा करनेसे, रामका चरित्र वाल्मीकि-चित्रि-त चारित्रसे हीन न होकर महत् ही होगया है।

महर्षि वाल्मीकिके ऊपर मेरे हृदयमें गहरी भक्ति है। वे अपने समयके साधारण ज्ञान और प्रवृत्तिसे बहुत ऊँचे पर पहुँच चुके थ। किन्तु उसके बाद पृथ्वीकी सभ्यता और भी अग्रसर हुई है। पहले सब देशोंमें ही स्त्री जातिकी कक्षा और पदवी हीन थी। भारतवर्षमें स्त्री-जातिकी मर्यादाकी रक्षा बहुत अधिक की जाती थी, तो भी, उस समय भी, यह देश स्त्रीजातिके सम्बन्धमें जो वर्त्तमान उच्च धारणा देख पड़ती है—वहाँ तक नहीं पहुँचा था। स्त्री सहधर्मिणी होने पर भी उस समय पतिकी सम्पत्ति-मात्र समझी जाती थी। इसीसे युधिष्ठिर-ने पाँसोंके खेलमें द्रौपदीको दाव पर रख दिया था। श्रीरामचन्द्रने भी, केवल सीताके निर्वासनके समय ही नहीं, सीताका उद्धार करने-के बाद भी, सीतासे जो कहा था वह प्रसंगवश उच्चारण करनेमें भी कष्ट होता है।

सीताकी स्वर्णप्रतिमाकी बात बहुत ही सुन्दर और विचित्र है। मुझे आशा है कि मैंने वह बात बिल्कुल वैसी ही रक्खी है। मैंने उसीके ऊपर पाठकोंका मन अधिक आकृष्ट करनेके लिए रामके दुःखको उज्वल वर्णमें चित्रित करनेकी चेष्टा की है, और उस स्वर्णप्रतिमाके सम्बन्धकी बातोंका उल्लेख तीन दृश्यों में किया है।

और भी एक बातका उत्तर देनेकी जरूरत है। मैं स्वीकार करता हूँ कि राम के द्वारा शूद्रकका सिर काटा जाना मुझे एक निन्दित कार्य जान पड़ता है। मैंने वह अंश चित्रित करनेमें उस दोष को मिटानेकी, या उसकी कोई आध्यात्मिक व्याख्या देनेकी कुछ भी चेष्टा नहीं की है। अनेक

ऐसे हिन्दूपनके पक्षपाती हैं जिनकी रायमें, पहलेके समयमें हिन्दू जाति-का जो कुछ था वही ज्ञान आर नीतिका परम और चरम उत्कर्ष था। किन्तु मेरी धारणा वैसी नहीं है। मेरे मतमें, उस समय शूद्रोंके प्रति ब्राह्मणोंका शास्त्रीय व्यवहार अत्यन्त अन्यायपूर्ण था। ग्रीसमें हेलट लोग जैसे सताये जाते थे, वैसे ही हमारे देशमें शूद्र पीड़ित होते थे—शूद्रोंकी भी प्रायः वैसी ही दशा थी। मनु आदिके विधानमें इसके अनेकानेक निदर्शन पाये जाते हैं। मेरी समझमें शूद्रक राजाके प्रति रामका यह व्यवहार उसी अन्यायका एक उदाहरण है। किन्तु मैंने इस व्यवहारके लिए रामचन्द्रको दोषी न करके उनके गुरुदेव वशिष्ठ-मुनिको दोषी बनाया है। और, महर्षि वाल्मीकिके आगे महात्मा वशिष्ठ-की हारमें केवल यही कल्पना की है कि वशिष्ठका मत भ्रान्त था। उन ऋषिवरके महत् उद्देश्य और उदार हृदयको क्षुण्ण करनेकी चेष्टा नहीं की।

दो एक लेखकोंने यह बात कही थी कि, विलायत हो आनेवालेका पौराणिक आख्यान लेकर नाटक या काव्य लिखनेकी चेष्टा करना एक प्रकारकी विडम्बना ही है! यह कहने वाले लोग, जान पड़ता है, उस समय भूल गये थे कि बंगभाषामें सबसे श्रेष्ठ पौराणिक महाकाव्य लिखा है—माइकेल मधुसूदनदत्तने। मैं एक साँसमें महाकवि माइकेल मधुसूदनदत्तके साथ अपना नाम लेनेकी स्पर्धा नहीं करना चाहता। मैं सिर्फ यह दिखाना चाहता हूँ कि इस कोटिके समालोचकोंका उल्लिखित आक्षेप कितना भ्रमपूर्ण है।

अन्तको मैं बुद्धिमान् विद्वानोंसे अनुनय करता हूँ कि वे इस नाटक-की रचनाको केवल 'काव्य-कला' की दृष्टिसे देखें; इतिहास या धर्मग्रन्थके भावसे इसका विचार करने न बैठें। रामायण पढ़ते पढ़ते सीता देवीके ऊपर मेरे हृदयमें जो असीम भक्ति और करुणा उत्पन्न हुई थी, उसका एक कण भी अगर मैं इस काव्य-नाटकमें दिखा सका हूँ तो उसीसे मैं अपने इस रचनाके उद्देश्य को सफल समझूँगा।

—ग्रन्थकार।

नाटकके पात्र ।

पुरुष ।

रामचन्द्र	...	...	...	अयोध्याके राजा ।
लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न	...	...	...	रामचन्द्रके भाई ।
लव, कुश	...	...	...	रामचन्द्रके पुत्र ।
वाल्मीकि	...	...	...	महर्षि
वशिष्ठ	...	...	...	”
राजा शूद्रक				

स्त्री ।

सीता	...	...	...	रामचन्द्रकी स्त्री ।
उर्मिला	...	...	...	लक्ष्मणकी स्त्री ।
माण्डवी	...	...	...	भरतकी स्त्री ।
श्रुतकीर्ति	...	...	...	शत्रुघ्नकी स्त्री ।
शान्ता	...	...	...	दशरथकी कन्या ।
वासन्ती	...	...		वाल्मीकिकी पाली हुई कन्या ।
शूद्रककी पत्नी				

सीता।

पहला अंक।

पहला दृश्य।

स्थान—सभाभवन।

[राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न।]

राम—भाई, किशोर अवस्थामें ही मैं वनवासी हुआ—वनमें रहा; इसीसे राजकाज नहीं सीखा; धर्म और राजनीति नहीं सीखी। दिन शिकारमें बीता, रात आश्रमकी कुटीमें विश्रब्ध विश्राममें बीती। रोज उसी घने वनमें वही एक मनको मुग्ध बनानेवाला मनोहर दृश्य देखता था। उसी पहाड़के ऊपरसे नित्य वही गोदावरीका किनारा, वे ही पहाड़ी राहें, वे ही रमणीय खेत, वे ही परिचित वृक्ष-लता-निकुंज आदि देखा करता था। नित्य वही एक शब्द—वही मंद पवनकी हिलोरोंसे हिलते हुए पत्तोंकी अस्पष्ट मर्मरध्वनि, वही दूरपर मधुर झरना झरनेका शब्द सुना करता था। इस तरह शास्त्रचर्चा, विद्यालाप और सब कामकाज भूल कर वनकी शोभा

देखने-सुननेमें ही मैं लगा रहा। मेरे जीवनके पिछले दिन नदीके प्रवाहकी तरह, स्वप्नकी तरह, अनन्त आलस्यमें चले गये हैं। मैंने कुछ भी नहीं सीखा। भाईयो, तुम्हीं तीनों भाई मेरे सुहृद्, सखा, मंत्री, सब कुछ हो। भैया भरत, तुम सदा वही उपदेश देते रहा करो, जिससे मैं प्रजाका कल्याण कर सकूँ। प्रजाका मनोरंजन कर सकनेसे ही मेरे मनकी कामना पूर्ण होगी। प्यारे लक्ष्मण, जैसे पञ्चवटी वनमें मुझे निरन्तर गहरे स्नेहसे घेरे रहते थे वैसे ही तुम सदा मेरे पास रहना। हे प्रिय शत्रुघ्न, देखो, जिसमें मेरे विशाल राज्यमें चारों ओर चाँदनीकी तरह अखंड शान्ति विराजे, वही करना।

भरत—भरतके मनमें भाईके मंगलकी कामना और चिन्ताके सिवा दूसरी बात स्थान नहीं पा सकती।

लक्ष्मण—लक्ष्मण सुखमें, दुखमें, कल्याणमें, विपत्तिमें, सदा ही महाराज रामचन्द्रका साथी है।

शत्रुघ्न—निश्चय रखिए, शत्रुघ्न सदा सम्राटका आज्ञापालक अनुगत भृत्य है।

राम—ऐसा ही हो भाईयो।

भरत—प्रियवर, क्या हालमें अष्टावक्र मुनि राजधानीमें आये थे?

राम—हाँ आये थे। उन्होंने मुझे अनेक उपदेश और सलाहें भी दी हैं। प्रिय भरत, उनकी अन्तिम और विशेष आज्ञा यही है कि "प्रजारंजन ही मूलराजधर्म है; वही राज्यकी जड़ है। प्रजारंजनके विना जो राज्यशासन किया जाता है वह प्रजापीड़न कहा जाने योग्य है। राजा और कुछ नहीं, प्रजाका भृत्य मात्र है। प्रजाकी सेवा ही राजाका कार्य है। राजाका कर्तव्य है कि वह प्रजाके सुख

और भलाईके लिए अपने सब सुखोंको तिलांजलि दे दे। अगर जरूरत पड़े तो बन्धु, भाई, माता और पत्नी तकका त्याग कर दे—उसमें भी न हिचके। ” भैया भरत, मैं भी उसी प्रजारंजनको अपने जीवनकी साधना और ध्यान बनाना चाहता हूँ। मैं नित्य मन-वाणी-कायासे अपनी प्रजाका कल्याण साधन करूँगा। भैया, अपने राज्य-शासनके दोषोंको मैं जानना चाहता हूँ। इसका क्या उपाय है, बताओ? बताओ भैया, किस उपायसे प्रजाको सन्तुष्ट रखा जा सकता है?

भरत—यह समस्या बड़ी ही कठिन है। प्रियवर, मिथ्यानिन्दा की बाणी खुलासा तौरसे दरिद्रताके कानोंको फोड़ा करती है, और मिथ्यास्तुतिकी वाणी हाथ जोड़े हुए चारों ओरसे ऐश्वर्यको घेरे रहती है। असमर्थ पुरुषकी भौंहका टेढ़ा होना भी क्षमा नहीं किया जाता, और क्षमता अगर लात भी मारे तो वह क्षमाके योग्य समझी जाती है। क्षमताकी त्रुटिको कौन मूढ़ दिखावेगा? उसकी टेढ़ी भौंह देखनेका साहस किसे होगा?

राम— तुम्हारा कहना सच है। फिर भाई, प्रजाके अभावों-अभियोगोंको मैं किस तरह जानूँगा? प्रजाके अभाव-अभियोगोंको जाने विना उन्हें दूर करना असंभव है। रोगका निदान जाने विना उसकी चिकित्सा करना योग्य वैद्यके लिए भी संभव नहीं।

भरत—है–केवल एक उपाय है। वह यही कि छद्मवेष धारण करनेवाले गुप्तचर अयोध्यामें रखिए। वे जासूस चुपचाप प्रजाके अभाव-अभियोगोंका पता लगाकर नित्य आपकी सेवामें उपस्थित होंगे और सब हाल कहते रहेंगे। व्याधि बढ़ने या फैलनेसे पहले उसके इलाज होनेका यही एक उपाय है।

राम—तुम्हारा यह प्रस्ताव ठीक है। अच्छा भरत, कलसे तुम

अयोध्यामें गुप्तचर नियुक्त कर दो। प्रजाकी अभिलाषा प्रकट होनेसे पहले ही जासूसोंके द्वारा जानकर मैं उसे पूर्ण कर दूँगा।—भैया लक्ष्मण, तुम भी उर्मिलासे कह देना कि राज्येश्वरी राजलक्ष्मी सीताकी सब अभिलाषायें नित्य पूरी की जाया करें। जानकीकी इच्छासे, मणि-मोती-रत्न आदि बहुमूल्य पदार्थ, उन्हें राहकी धूलकी तरह सुलभ हों।

लक्ष्मण—देवी सीताकी इच्छासे सदा असंभव भी संभव होगा।

राम—शत्रुघ्न, आज मैंने सुना है कि दूर मधुपुर राज्यमें लवण नामका दैत्य घोर अत्याचार करके प्रजाको सता रहा है। भैया, तुम सेना लेकर शीघ्र उसके विरुद्ध युद्ध-यात्रा कर दो।

शत्रुघ्न—महाराजकी आज्ञा सिर आँखों पर है।

राम—चलो, अब अन्तःपुरमें चलें। दो पहरका समय हो गया है। अब माताके पास चलकर देखूं, उनकी पूजा समाप्त हुई या नहीं। सब राजपरिवारकी कुशलवार्ता भी पूछनी है। आओ, इधरसे घूमते हुए चलें। अब सभा-विसर्जन करो और अंतःपुरमें चलो।

(सबका प्रस्थान)

दूसरा दृश्य।

स्थान—राजमहलका अन्तःपुर।

समय—सायंकाल।

[सीता, उर्मिला, माण्डवी, श्रुतिकीर्ति और शान्ता।]

सीता—वे सब पुरानी बातें अब फिर क्या कहूँ? कई बार तो कह चुकी हूँ।

शान्ता—और एक दफा कहो। मुझसे तो तुमने एक दफा भी

नहीं कहीं । बहन, मेरे कहनेसे और एक दफा कह डालो ।

उर्मिला—मैं तो जितना सुनती हूँ उतना ही और सुननेको जी चाहता है । मुझे तो वे सब बातें किसी मायामय उपन्यासकी ऐसी जान पड़ती हैं ।

माण्डवी—हाँ हाँ–वही जगह सबसे अच्छी है; वही–जहाँ सूपनखा लक्ष्मणका रूप देखकर मोहित हो गई थी ! (उर्मिलासे) क्यों जी, यही उसका नाम था न ?

शान्ता—सूपनखा राक्षसी ?

माण्डवी—हाँ राक्षसी ! उसने आकर चुपके चुपके एकान्तमें लक्ष्मणसे कितनी ही अच्छी अच्छी बातें कहीं, हृदयकी गूढ़ व्यथा सुनाई, बहुत कुछ स्तुति और अनुनय-विनय करके लक्ष्मणका ध्यान अपनी ओर खींचनेकी चेष्टा की। भला क्यों न ऐसा करती ?–सूपनखा कौन चीज है, देवरजीका रूप देखकर तो खुद कामदेवकी स्त्री रति भी मूर्च्छित हुए बिना नहीं रह सकती ! सूपनखा तो एक तुच्छ राक्षसी ही ठहरी ।

उर्मिला—रहने दो बहन । जीजी, तुमने यह अच्छा कौतुक करना सीख लिया है ! हर घड़ी दिल्लगी और ठट्ठा किया करती हो !

शान्ता—उसके बाद क्या हुआ माण्डवी ?

माण्डवी—उसके बाद ज्यों ही सूपनखा पास आई त्यों ही देवरने उसकी नाक काट ली और इस तरह उसे अपना प्यार जताया ।

शान्ता—(सीतासे) क्यों बहन सच ?

सीता—हाँ बहन सच है ।

माण्डवी—मैं सच ही कह रही हूँ । प्रेम जतानेकी यह नई

चाल शायद तुम नहीं जानती हो बहन ?

शान्ता—फिर क्या हुआ ?

माण्डवी—फिर प्रेमके बदले बैर ठन गया ! बिना नाककी हो कर सूपनखा रोती हुई अपने घर गई। उसकी यह दुर्दशा देखकर उसके दोनों भाई खर और दूषण बहुतसी राक्षसोंकी सेना साथ लेकर युद्धके लिए दौड़े आये। उन्हें देखकर लक्ष्मण डर गये और "रक्षा करो भैया !" कहकर चिल्लाते हुए भागे।

शान्ता—नहीं जी नहीं, तुम झूठ कहती हो।

माण्डवी—नहीं, मैं सच कहती हूँ।

शान्ता—हाँ !—अच्छा फिर क्या हुआ ?

माण्डवी—उसके बाद लक्ष्मण कुटीमें भाग आये, तब भी वे निश्चिन्त नहीं हुए। उन्हें काँपते देखकर रामचन्द्रने पूछा—"क्या हुआ लक्ष्मण ?" वीर लक्ष्मणने दूर पर अनिर्दिष्ट स्थानकी ओर उँगली बढ़ाकर कहा—"दादा, वे लोग आ रहे हैं !" अन्तको किसी तरह रामचन्द्रने भाईको शान्त किया। फिर वे अकेले धनुष-बाण लेकर उस ओर गये और युद्धमें उन्होंने उन असंख्य राक्षसोंको मारा। रामचन्द्रने कुटीमें लौट आकर देखा, लक्ष्मण मूर्च्छित पड़े हैं और जानकी उन पर हवा कर रही हैं। जेठजीने आकर ऊँचे स्वरसे लक्ष्मणको पुकारा। रामचन्द्रके मुँहसे सब राक्षस-सेना के मरनेका हाल सुनकर देवरजी उठ बैठे। मुँहमें हँसीकी रेखा दीख पड़ी और बोल भी फूटा। देवरने जेठजीसे कहा—"सो तुम क्या जानते हो ? मैं ही अकेले क्या सब राक्षसोंको युद्धमें नहीं मार सकता था ? लेकिन तुम बड़े भाई थे न, इसीसे बिना तुम्हारी अनुमति लिये मैंने युद्ध नहीं किया।"

सीता—चुप रहो माण्डवी !—बहन शान्ताके आगे लक्ष्मणकी

मिथ्या निन्दा क्यों कर रही हो ? जिनकी दया शतधार होकर अवारित वर्षाकी धाराके समान सब प्राणियोंके ऊपर बरसती है, जिनका स्नेह शरदऋतुके प्रथम समयके झरनेके समान किनारों तक लबालब भरा हुआ है, जिनकी भक्ति फूले हुए नम्र चंपेके पेड़के समान मनोहर है, जिनकी सहनशीलता पृथ्वीके समान अटल है, जिनका पराक्रम और तेज सूर्यके समान अनिवार्य है, जिनकी कोमलता कमल-कुसुमके समान है, उन लक्ष्मणके बारेमें ऐसी दिल्लगी करना उचित नहीं । उन्होंने किशोर अवस्थामें ही राजमहलके भोगविलासोंको तुच्छ समझकर अपनी इच्छासे रामके साथ वनवासमें रहकर अनेक कष्ट सहेहैं । उन्होंने नित्य पुत्रके समान खाना-पीना-सोना छोड़ मेरी और अपने बड़े भाईकी सेवा की है । उन्होंने जिस ऋणके बन्धनमें हमें बाँध रक्खा है उससे हम जन्म भर उऋण नहीं हो सकते । वह ऋणका बन्धन ऐसा मधुर और प्यारा है कि मैं उससे छुटकारा पाना भी नहीं चाहती । जितना ही सोचती हूँ उतना ही मुग्ध होती हूँ, हर्षसे रोमाञ्च हो आता है । उस महत्वके चरम आदर्शको जब मैं देखती हूँ, तब मेरी ऐसी ही दशा हो जाती है । जिनकी बड़ाई सौ मुँहसे सौ बरस तक करने पर भी चुक नहीं सकती उन लक्ष्मणका परिहास किस मुँहसे करती हो बहन ?

उर्मिला—(स्वगत) सती बहन ! प्यारी बहन ! तुम्हारी यह बात सुनकर तुम्हारे ऊपर मेरा स्नेह और भक्ति सौगुनी बढ़ गई ! सचमुच मेरे स्वामी धन्य हैं ! मैं उनके पैरके अँगूठेके योग्य भी नहीं हूँ !

श्रुतकीर्ति—मैं जानती हूँ, वे ऐसी दिल्लगी तो करेंगी ही । अयोध्याकी राजरानी थीं; स्वामीके साथ सदा सुखसे रहती थीं । उन्हें

सीताकी तरह चौदह वर्षतक वनवासके कष्ट तो भोगने ही नहीं पड़े–उर्मिलाकी तरह चौदह वर्ष तक विरहकी दारुण व्यथा तो सहनी ही नहीं पड़ी।

माण्डवी—(गंभीरभावसे) वह क्या मेरा दोष था ? सच कहो—सच कहो, क्या मैंने रानी होना चाहा था ? युवराज रामचन्द्र सीता और लक्ष्मणके साथ, राज्य छोड़कर, जिस दिन बनको चले थे, उस समय यद्यपि मैं निरी बालिका थी, तो भी क्या निरुपाय बच्चेकी तरह नहीं रो रही थी ? अंधकारमयी सी अयोध्याकी ओर देखकर मैंने क्या गहरा खेद नहीं प्रकट किया था ? बादको जब मैंने जवानीमें पैर रक्खा, तब हाय वह नीतिका विप्लव और घोर अन्याय मेरी समझमें आया ! उस समय क्या मैंने सैकड़ों बार राज्य त्याग देनेकी इच्छा नहीं प्रकट की ? मैंने वारंवार इस महल और राज्यको घृणाकी दृष्टिसे देखकर वारंवार धिक्कार नहीं दिया ? जब कोई मुझे महारानी कहकर पुकारता था तब मैं उससे यहीं कहती था कि "मैं रानी नहीं हूँ; जो राजा और रानी हैं वे इस समय वनबासी हैं। भरत उनके भृत्य मात्र हैं और मैं उनकी दासी हूँ ?"

सीता—अधीर न होओ माण्डवी ! बहन, तुम क्या सचमुच यह समझती हो कि इतने दिनोंतक मैं दुखिया थी?––आहा, किस भाग्य-शालिनी स्त्रीने सौ वर्षमें भी वैसा सुख भोगा होगा जैसा सुख मैंने स्वामीके साथ एक दिनमें पाया है ?—वे दिव्य सोहावने प्रातःकाल इस समय भी याद आते हैं, जो सुनहली किरणों पर चढ़कर उस नील शून्य आकाश मार्गसे चुपचाप धीरे धीरे पृथ्वी पर उतर आते थे और स्वामीके चरणतलमें गिरकर प्रणाम सा करते थे। इतनेहीमें सैकड़ों पेड़ोंपरसे मंगलके बाजे जैसे बज उठें वैसे

ही असंख्य पत्ती बोल उठते थे । कुंजोंमें असंख्य फूलोंके ढेरके ढेर दिव्य हँसीके समान एक साथ खिल उठते थे । नित्य प्रातःकाल स्वामी की यही पूजा होती थी । नित्य इसी पूजा के साथ प्राणनाथकी पूजा करके मैं भी सनाथ होती थी और मन-ही-मन गर्वका अनुभव करती थी । नित्य दोपहरको आश्रमके आँगनमें पीपलकी घनी छाँहमें स्वामीके साथ बैठकर स्थिर सौम्य श्याम बनका चित्र देखा करती थी—वह सूर्यके प्रकाशसे उज्ज्वल सूनसान सन्नाटेसे भरा हुआ जंगल निहारा करती थी । सन्ध्याके समय गोदबरीके किनारे जाकर शिलाके ऊपर—कभी अकेले और कभी प्राणनाथके साथ—बैठती थी । दूरपर ऊपरकी ओर आँख उठाकर देखती थी, अनेक प्रकारके रंगोंका बिचित्र प्रवाह देख पड़ता था—नीले, पीले, काले, लाल रंगोंका समुद्रसा उमड़ पड़ता था । रंगोंकी वह सुन्दर रागिनी प्रेमके स्वप्नकी तरह शान्त और मनोहर जान पड़ती थी । क्रमशः किनारे पर रातका अन्धकार जब घना हो आता था, तब मैं बिश्राम-कुटीमें लौट आती थी ।—आहा, क्या इस जीवनमें मैं उस सुन्दर दृश्यको फिर देख पाऊँगी ? सचमुच मांडवी, वह दृश्य और शोभा फिर देखनेको मेरा बहुत जी चाहता है ।

माण्डवी—यह तुम्हारा कैसा खयाल है जीजी ? वहाँ तुम वन-देवी थीं, आज यहाँ गृहलक्ष्मी हो । उन सब बातोंको भूल जाओ । वह दुःस्वप्न अपने मनसे दूर कर दो । राजमहलको प्रकाशित करती हुई अन्तःपुरमें रहो ।

सीता—दुःस्वप्न ? तुम माण्डवी उसे दुःस्वप्न कहती हो ? तुमने गहन बनका वह मधुर मनोहर दृश्य नहीं देखा, इसीसे तुम ऐसी बात कहती हो । आहा, वह हेमन्त ऋतुका स्थिर निर्मुक्त आकाश—वह बसन्त-पवन, जो 'ज्वार' की तरह जैसे किसी अजाने सागरके ऊपर-

से होकर आती थी ! वह ग्रीष्म ऋतुकी स्निग्ध और सघन वनोंकी शीतल छाया ! वह शरद ऋतुकी चाँदनी, जो एक साथ बहियाकी तरह मैदान, पहाड़ उपत्यका और गोदावरी नदीके हृदयको ढक लेती थी ! वह वर्षाऋतुमें घने मेघों का गरजना —वह बिजलीका चमकना ! शीतकालमें उस सोहावने घाममें नित्य सवेरे जी भरकर स्नान सा करना ! इन सब बातोंको बहन तुमने नहीं देखा, इसीसे तुम उन्हें दुःस्वप्न कहती हो।

श्रुतकीर्ति —मैं जहाँ तक समझती हूं, हमारा पक्ष ही प्रबल है। हमारी ही जीत है। यह महल ही भला है।

शान्ता—क्यों ?

श्रुतकीर्ति—बनमें जाड़ा बड़ा होता है।

शान्ता—(हँसकर) सो चाहे जो हो, सीता, क्या यह महल, ये ऊँची दीवारें, ये ऊँचे मन्दिरोंके शिखर, ये हथियारबंद पहरेदार सिपाही, तुम्हें अच्छे नहीं लगते ?

सीता—क्या कहूँ बहन, न जानें क्यों इस महलके कठिन पत्थर जैसे मेरे हृदयको दबाये हुए हैं। अपरिचितकी तरह घरके बाहर ही बाहर दिन आते और चले जाते हैं। वसन्तका वायु बहुत धीरे काँपते हुए पैरोंसे झरोखों और मोखोंकी राहसे भीतर आता है। जैसे मेरे साथ उसका बोलना चालना मना है। ऊपर नील आकाश जैसे डरता हुआ घरके भीतर झाँकता है। चन्द्रालोक (चांदनी) जैसे संकोचसे भरा हुआ दूरसे आता है और फिर रानीसे आदर न पाकर लौट जाता है। ये सब मेरे पहलेके बंधु ऐसे डरते हुए आते हैं—जैसे कोई एक तरहका संकोच—एक तरहका खटका—सबके मनमें होगया है। ये सब जैसे प्राणके भयसे मुँहसे बात नहीं निकालते। सब दास-दासी और परिवारके लोग मुझे सम्राज्ञी समझकर सकपकाये-

से मुझसे दूर रहते हैं—सदा हाथ जोड़े मुझे रानी महारानी कहते हैं। गुरुजनोंके प्रति स्वामीका भी क्या जानें कैसा लज्जापूर्णभाव और शंकायुक्त संयत बोलचाल देख पड़ता है। बहन, यह सब मेरी समझमें नहीं आता। यह क्या है! बहन, यह क्या है! कुछ समझमें नहीं आता, किन्तु यह सब देखकर हृदयमें बड़ी व्यथा होती है! इसीसे यह हृदय सदा शून्य सा रहता है—हाय हाय किया करता है। अपने स्वामीके साथ उसी गोदावरी नदीके किनारे, उसी खुले मैदानमें दौड़कर जानेके लिए जी चाहता है। उन्हीं कुञ्जवनोंमें, उन्हीं खिले हुए फूलों, उन उड़-उड़कर कलोलें करते हुए पक्षियों और कूदते हुए मृगोंको देखनेके लिए जी जैसे मचल रहा है। अहो, वह कैसा सुखका समय चला गया।

श्रुतकीर्ति—जीजी, तो तुम्हें यह राजमहल, आत्मीय स्वजन, इतनी हँसी-खुशी, मन-बहलाव, हम लोगोंका स्नेह, यह सेवा-टहल यह मिठाई खीर, यह पोशाक और रत्नोंके गहने अच्छे नहीं लगते? इन सब सुखोंके आगे तुमको पञ्चवटी वन अच्छा लगता है? बहन, मैं समझती हूँ, तुम्हारे भाग्यमें बहुत कष्ट बदे हैं।

माण्डवी—चुप श्रुतकीर्ति, तुम यह क्या कह रही हो।

सीता—तुमने सच कहा बहन श्रुतकीर्ति। मेरे भाग्यमें सचमुच ही बहुत कष्ट बदे जान पड़ते हैं।

नेपथ्यमें कौशल्या—सीता सीता।

शान्ता—बहन सीता, सुनती हो, माता कौशल्या पुकार रही हैं।

सीता—(चौंक कर) आती हूँ। (प्रस्थान।)

शान्ता—सीता यों ही सदा चिन्तासे व्याकुल, सदा अनमनी रहती हैं। मुग्ध मृगके समान नेत्रोंसे, एक प्रकारके प्रश्न-एक प्रकारके विस्मयका भाव प्रकट करती हुई चारों ओर दृष्टि डालती रहती

हैं । वे जैसे एक प्रकारके आतंक या खटकेसे विह्वल सी बनी रहती हैं । देखते ही देखते दम भरमें मुँह पीला पड़ जाता है । दोनों आँखोंमें आँसू छलक आते हैं । हँसीकी रेखा क्षीण होकर गहरे विषादमें लीन हो जाती है । वह दृश्य जैसे पूनोंकी रातमें मरणकी चिन्ता, जैसे फूली फुलवारीमें काला साँप, जैसे उत्सव-मंदिरमें आर्तनाद, जैसे सौन्दर्यमें मूर्च्छा, जैसे बच्चेके मस्तकमें चिन्ताकी कालिमा, जैसे हास्यकी पाषाण-प्रतिमा, जैसे पद्मके पत्तेमें रातका कुहासा, अथवा जैसे अन्धकारके बीच सुन्दरी सन्ध्याकी आत्महत्या जान पड़ता है ।—माण्डवी, भला बहन, तुम समझ सकती हो कि सती सीताके मनमें क्या चिन्ता है ?

माण्डवी—उसमें समझने सोचनेकी कौन बात है ? वनमें रहनेवाली चिड़िया कहीं सोनेके पिंजड़ेमें सुखसे रह सकती है ?

श्रुतकीर्ति—नहीं । वह पेड़के ऊपर जाड़े गर्मी और वर्षामें कैसे सुखसे रहती है ! मैं बराबर सीतासे कहती आ रही हूँ कि तुम्हारे वनकी अपेक्षा यह महल हजार–गुना अच्छा है ! क्या यहाँ हवा नहीं चलती ? क्या यहाँ पूनोंकी चाँदनी नहीं छिटकती बहन ? उसके ऊपर यहाँ नित्य राजभोग मिलते हैं; सैकड़ों दास-दासी खाना-सोना छोड़कर सेवामें लगे रहते हैं ।—मैं तो बहन, बनकी अपेक्षा महलमें रहना ही पसंद करती हूँ ।

माण्डवी—बहन, सबकी रुचि तो एकसी नहीं होती !

श्रुतकीर्ति—सो तो ठीक ही है । किसीको पूरी-हलवा अच्छा लगता है और किसीको दालमोठ–समोसे अच्छे लगते हैं ।

शान्ता—यही—ठीक यही बात है ! तुमने ठीक कहा । तुम सदा ठीक बात कहती हो । और, माण्डवी, उर्मिला, सीता, ये सब कवि हैं ।

(उर्मिलाके सिवा सबका प्रस्थान)

उर्मिला—सूर्य अस्त होने जा रहे हैं । दूर पर रंगीन सुनहला मैदान देख रहा है । स्थिर सरयू नदीके प्रवाहमें सूर्यकी सुनहली किरणें पड़ कर सो रही हैं । सन्ध्या इस विश्व-मंदिरमें आधा घूँघट काढ़े, मलिनवस्त्र धारण किये, ललाई लिये मुखमें मुसकान और हाथमें दीपक लेकर चुप चाप धीरे धीरे पैर रखती हुई आरही है । लज्जासे मानों आँखें नीचे किये है । मंद मुसकानसे मनोहर मुखवाली, माधुरीसे भरी, लज्जासे नम्र, प्रेममयी संध्या, पृथ्वी पर आओ । और हे सखी, प्राणेश्वर लक्ष्मणको लाकर उर्मिलाके हृदय से लगा दो । (प्रस्थान ।)

तीसरा दृश्य ।

[लक्ष्मण और उर्मिला ।]

लक्ष्मण—कितने दिनोंके बाद यह मिलन हुआ है ?

उर्मिला—नाथ, यह मैं नहीं जानती । जब नाथ के दर्शन मिले तभी से बीते हुए समय की विरह-व्यथा जैसे भूल गई है । तनिक भी दु:ख नहीं है । केवल तृप्ति, केवल सुख और केवल दिव्य हँसी है ।कुंजभूमि प्रकाशित हो रही है; केवल तुम मुझे और मैं तुम्हें दोनों परस्पर प्यार कर रहे हैं । आँखोंके आगेसे सब कुछ जैसे लुप्त होगया है–केवल तुम ही पास हो, बस मैं इतना ही अनुभव कर रही हूँ । इस मनके दृश्यमें तुम्हारे सिवा और कुछ नहीं देख पाती ।

लक्ष्मण—चौदह बरसके बाद—

उर्मिला—हाँ, चौदह वर्षके बाद अब प्राणनाथ को पाया है, मगर उन दिनों न तो मैं अधीर थी, और न हृदयमें विरहकी व्यथा ही थी । मैं जानती थी कि, इस जगतमें आप उर्मिलाके हैं और उ-

र्मिला आपकी है। मैं जानती थी कि इस लोकमें फिर मिलना होगा और नहीं तो दूसरे जन्ममें अवश्य ही होगा।

लक्ष्मण—तुम यहाँ अयोध्यापुरीमें थीं, और मैं वहाँ दूर गोदावरीके किनारे पड़ा हुआ था; तो भी प्रिये, तुम जैसे अपने स्नेह की दोनों भुजाओंसे मुझे घेरे रहती थीं! बीतेहुए चौदह वर्षोंमें मैं नित्य ही इस हृदयमें तुम्हारी दृष्टि, तुम्हारे स्पर्श, कंठ-शब्द और मनोहर मुखका प्रत्यक्ष अनुभव किया करता था।

उर्मिला—सो मैं जानती हूँ स्वामी!

लक्ष्मण—मेरे हृदय की रानी! तुम सदा मेरे मनमें बनी रहो—नित्य सोते या जागते, मिलन या विरह की अवस्थामें, मेरे हृदयको पूर्ण बनाये रहो।

उर्मिला—प्रियतम, देखो, कैसा मनोहर दृश्य है, कैसा हराभरा विश्व प्रकाशित हो रहा है; कैसा सुन्दर शान्तिका चित्र है!

लक्ष्मण—सचमुच यह नदी का किनारा, यह घनी छाँहवाला बरगद, यह मनोहर उपवन बहुत ही दर्शनीय है!

उर्मिला—वह सुनो, नवपल्लवयुत उपवनके पुष्पमय अधरोंमेंसे कोमल धीमी अस्पष्ट मर्मरध्वनि सुन पड़ती है। वह देखो, आकाशका मुख दिव्य स्नेहसे भरा हुआ है—उसमें आशीर्वादसे भरी, उज्ज्वल मध्यान्ह—किरणोंकी अपार हँसी देख पड़ती है। वह सुनो, घने कुंजवनमें, हरेभरे पेड़ों की डालियों पर चिड़ियाँ चहक रही हैं। वह देखो, जंगलोंसे ढके हुए पहाड़ दूरपर अपने छोटे छोटे शिखरोंको हाथोंकी तरह ऊपर उठाये खड़े हैं। वह देखो, फूले फले पेड़ोंपर आनन्दसे मस्त हो रही हवा नाच रही है।—स्वामी एकटक क्या देख रहे हो?

लक्ष्मण—और क्या देखूँगा, विधाताकी विचित्र सृष्टि—तुम्हारा

मुख-देख रहा हूँ ।

उर्मिला—(लज्जाके भावसे) देखो, वह मृगी अपने बच्चोंके साथ खेल रही है । वह कबूतर-कबूतरी दोनों एकान्त मिलनके आनन्दमें दिन बिता रहे हैं । वह नदीके किनारे पर देखो, कितनी गउएँ चर रही हैं-वह उस घने वनमें मोर और मोरनी विचर रहे हैं।

लक्ष्मण—सब देख रहा हूँ प्रियतमे । कितनी नदी, कितने नद, कितने पुर और नगर नाँघकर मैं अतिथि तुम्हारे आश्रम-भवनमें आया हूँ; जी भरके मुझे अपने प्रेमका अमृत पिलाओ-हृदयकी प्यास मिटाओ-अपना प्यार दो ।

उर्मिला—हाय नाथ ! वह प्यार तो मैं नित्य निरन्तर देती हूँ, मगर तो भी यह आशा और अभिलाषा नहीं मिटती ।

(दोनों लिपट जाते हैं ।)

चौथा दृश्य ।

स्थान—महल से मिला हुआ बाग ।

समय—चाँदनी रात ।

[राम और सीता]

राम—सुहावने सरयू-तट पर शीतल सुगन्ध मन्द हवा चल रही है । चन्द्रमा के अमृत को पीकर मगन हो रहा चकोर कलोलें कर रहा है । बगियामें पत्तोंकी कोमल मर्मर-ध्वनि सुन पड़ रही है । निकुञ्जमें पुष्प-परागकी महक छाई हुई है । एकान्तमें एक फूल हँसता हुआ दूसरे फूलके अंग पर गिरता देख पड़ता है । जान पड़ता है, जैसे शामको अप्सरायें आकर इस चाँदनीमें नहाया करती हैं-या जैसे अमृतकी तरंगों में ललित अंगोंको छोड़कर सखी सखीसे प्यारकी बातें करती हैं । प्रिये, देखो, आज यह पृथ्वी कैसी मधुमय मनोहर

देख पड़ती है !

सीता—प्यारे, वे दिन याद आते हैं जब चन्द्रमा इसी तरह अमृतकी वर्षा करता था ? वह गोदावरीका किनारा और वह पर्णकुटी कैसी सुहावनी थी ! कहाँ वे दिन और कहाँ ये दिन !

राम—कौन दिन तुम्हें अच्छे जान पड़ते हैं ?

सीता—मेरे हृदयके प्रकाश, जब तुम मेरे पास रहो वही समय मुझे अच्छा लगता है। वह पहलेका समय भी अच्छा था और यह समय भी अच्छा है। जब तुम पास रहते हो तब मैं और कुछ नहीं देखती, तुममें ही मगन रहती हूँ। नाथ, यह पृथ्वी तुमसे ही परिपूर्ण है। इस आकाशमें भी मेरे लेखे तुम्हीं व्याप्त हो। ओह ! जब मैं लङ्कामें थी तब, वे दिन कैसे कठिन और बुरे थे। महीने वर्षके बराबर और दिन महीनेके बराबर बीतते थे। हे नाथ, उस समय भी तो चन्द्रमा इसी तरह आकाशमें उदय होता था, मलयवायुके स्पर्शसे सिहरकर हर्षसे अशोक की कलियाँ खिल उठती थीं। हे स्वामी, फिर क्यों दिनरात हर घड़ी हृदयमें आगसी जलती रहती थी ? फिर किसके लिए मैं रातरात भर जागरण करती थी और रात जैसे समाप्त ही न होने आती थी ? रोते रोते अगर किसी तरह रात बीतती भी थी, तो नील आकाशमें सूर्यका उदय होने पर नित्य नई निराशा इस मनमें जागा करती थी ! वर्षाऋतुकी ठंडी हवा केवल मेरे हृदयकी आगको ही बढ़ाया करती थी ! शरत् ऋतुका चन्द्रमा जैसे मेरा उपहास करता हुआ ही ऊपर आकाशमें उठता था ! वसन्त ऋतुमें कोकिलाका गान जैसे मेरे हृदयमें हालाहल विष बरसाता था ! मलय-पवन जैसे मेरे शरीरमें बर्छियाँ मारता था और फूलोंकी महक जैसे सिरमें पीड़ा पैदा कर देती थी ! वसन्तमें या शीतकालमें सैकड़ों राक्षसियाँ मुझे घेरे रहती थीं। वे किसी त-

रह दिनको बिताकर रातको—आधीरातको—उत्सव करती थीं; कभी बिकट हँसी हँसती थीं, कभी मुझे डराती धमकाती थीं, कभी उपहास करती थीं । वे मेरी उस बारहों महीने होनेवाली तीक्ष्ण यातना और तीव्र वेदना को नहीं जानती थीं—नहीं समझ सकती थीं । निरुपाय नील आकाश अनन्त दयाके साथ मेरी ओर एकटक निहारा करता था—समुद्रका नीला जल मेरी दशा देखकर भीतर ही भीतर हाय-हाय किया करता था । अहो, वे दिन कैसे कठिन थे ! दिनरात कैसी घोर यातनाका सामना था ! हे प्राणनाथ, इस समय भी उन दिनोंकी याद आनेसे मैं भयके मारे काँप उठती हूँ ।

राम—प्रिये, आओ, मेरे पास आओ; क्यों व्यर्थ डर रही हो ? अब भी क्यों यों डरती हो ? अब तो तुम मेरे पास हो ! प्यारी, वह समय तो चला गया; अब उन बातोंको भूल जाओ । यह लङ्कापुरी तो है ही नहीं, फिर तुम क्यों आशङ्का कर रही हो ? रावण अपने पाप के कारण मारा जा चुका है । यह अयोध्यापुरी है और तुम्हारा राम तुम्हें अपनी भुजाओंके भीतर रखकर रक्षा कर रहा है ! प्रिये, राम तुम्हारी रक्षा करनेमें असमर्थ अथवा निर्बल नहीं है । तुम अपने मनमें उस पिछले दुःस्वप्नकी बात मत लाओ ।—प्रिये, उन पिछले बुरे दिनों को भूल जाओ ।

सीता—ना ना प्यारे, मालूम नहीं कि क्यों मैं उन दिनोंको भूलने नहीं पाती । न-जानें क्यों मेरा मन उन्हीं दिनों की ओर दौड़ जाता है, मना किया नहीं मानता । वही विकट विभीषिका बारबार देखती हूँ । व्याधके वाणसे घायल हरिणीकी तरह, विकल-हृदय और भयसे मुग्ध होकर, मैं उसी आततायीकी ओर फिर फिर कर देखती हूँ और उसकी वंशीकी ध्वनि सुनती हूँ । अथवा मेरी वही दशा है, जैसे बाघ किसी बटोहीका पीछा करे और वह बटोही

तेजी से भागकर अपने घरके द्वार पर पहुँच जाय, तो भी उसे अपने छुटकारेका विश्वास न हो और वह भयके मारे बारबार फिर कर ताकता रहे। मुझे जान पड़ता है कि वह लंकावाला दुर्दिन अपना शिकार हाथसे गवाँकर उसे खोजता हुआ अयोध्याके द्वार तक दौड़ा आया है, और हरघड़ी मुझे तुम्हारे हृदयसे छीन ले जानेका सुयोग देख रहा है। हे प्राणनाथ, इसीसे अगर तुम कभी घड़ी भरके लिए भी आँखोंकी ओट होते हो, तो मुझे डर मालूम होता है कि कहीं फिर न तुम्हारे चरणोंसे अलग होना पड़े! इसी डरसे दिन-रात मुझे कल नहीं पड़ती-रह रह कर काँप उठती हूँ! जब अकेली होती हूँ तभी प्राणनाथ, यह खटका होता है कि शायद अब फिर तुम्हारे दर्शन नहीं पाऊँगी!

राम—ना ना हृदयेश्वरी! तुमको मैंने बड़े कष्ट उठाकर पाया है; अब मैं तुमको सदा अपने हृदयमें रक्खूँगा। यह व्यर्थकी शंका अपने हृदयसे दूर करो।

सीता—नहीं जानती नाथ, भाग्यमें क्या बदा है! मुझे खींच कर—और खींच कर—अपने हृदयसे लगा लो। शायद यही मेरी और तुम्हारी आखरी मुलाकात है!

राम—यह क्या? तुम रो क्यों रहीं हो? तुम्हारी देह क्यों काँप रही है? यह भयसे व्याकुल दृष्टि क्यों है? तुम्हारा मुखमण्डल क्यों पीला पड़ा जा रहा है?

सीता—(लम्बी सांस लेकर) प्राणनाथ!

राम—प्यारी, तुम क्यों इतना अधीर हो रही हो? पहले तो कभी मैंने तुम्हारी ऐसी दशा नहीं देखी। प्रिये, तुम्हारे इस कोमल हृदयमें किसने संदेह का वज्र मारा है, बताओ तो सही। यह गद्गद वाणी, यह लम्बी साँस और यह छाती का धड़कना किस लिए है?

तुम्हारी आँखें क्यों डबडबाई हुई हैं ? तुम्हारे गुलाबी गालों पर आँसू क्यों ढुलक रहे हैं ?

सीता—छातीसे लगा लो प्राणनाथ !

राम—चलो प्यारी, अन्तःपुरमें चलें। रात अधिक हो आई है; सरयू-तट पर अंधकार छा गया है। वह देखो, चन्द्रमा भी अस्त हो गया। वायु जैसे थककर नींदके मारे पृथ्वी पर सो गया है। इस बुरी कल्पनाको हृदयसे दूर करो। चलो, शयनमन्दिरमें चलें।

(दोनोंका प्रस्थान ।)

पाँचवाँ दृश्य ।

स्थान—राजमहलकी बाहरी बैठक ।

समय—प्रातःकाल ।

[राम और दुर्मुख ।]

राम—क्या कहा रे दुर्मुख ?—तेरी इतनी मजाल ? दुर्मति, तू नहीं जानता कि वह कौन है और तू कौन है ? कुत्ते नमकहराम !

दुर्मुख—महाराज, मैं जानता हूँ कि वे महारानी हैं और मैं एक साधारण भृत्य हूँ। महाराज, आपकी आज्ञासे ही आज मैंने यह कठोर क्रूर समाचार श्रीचरणोंमें निवेदन किया है। केवल कर्त्तव्यके खयालसे—

राम—(जैसे चौंककर) सच है। दुर्मुख, तू मेरा भृत्य है। इसमें तेरा दोष नहीं है। तूने तो अपने कर्त्तव्यका पालन किया है। मैं मूर्ख महामूर्ख हूँ—मैंने ही तुझे आज्ञा दे रक्खी है कि तू नित्य प्रजा की की हुई मिथ्या निन्दा आदिका समाचार मुझे दे ! मैं उस निन्दाके जलमें नित्य सवेरे जैसे गंगास्नान करके दिनके और कृत्यों का आरंभ करता हूँ !—ओफ् ! यही पुरस्कार है ? मेरी प्रजाने जब चाहा तब वही मैंने किया। उनकी इच्छा पूरी की, उनका मनो-

रंजन किया, उसका यही पुरस्कार है ? सब बाधा-विघ्नों को नाँघकर धन और परिश्रमसे मैंने अबतक प्रजाकी सब इच्छायें पूरी की हैं ? प्रजा के अभाव-अभियोगोंको सुनना और पूरा करना ही मेरा नित्यका राजकाज है!—उसका यह पुरस्कार मिला ? अथवा, शायद मनुष्यजाति ऐसी कृतघ्न, ऐसी लोभी और ऐसी अधम है कि जितना दो उतनाही और चाहती है—किसी तरह उसका पेट ही नहीं भरता। अयोध्यावासियो, प्यारी सीताको—पुण्यमयी, गृहलक्ष्मी, पतिव्रता, राजरानी और राजलक्ष्मी सीताको—मेरे हृदयसे अलग करना चाहते हो ? सीता अलक्ष्मी और असती है ? पुरवासियो, तुम्हारे मनमें ऐसा अविश्वास कहाँ से आगया ? हाय, वे लोग क्या मुझसे बढ़कर सीताके चरित्र को जानते हैं ? सीता पवित्र हो या अपवित्र हो, सती हो या असती हो, वह मेरी है। फिर मैं औरोंकी इच्छासे सीताको आज क्यों तज दूँ ? कभी नहीं त्यागूँगा। प्रजाको अगर नहीं रुचती हैं, तो क्या इसी लिए मैं अपनी आँखें अपने हाथसे निकाल डालूँगा ? —कभी नहीं। अयोध्यामें रहनेवाली प्रजा चाहे जो कहे, सीता सदा मेरे घरमें गृहलक्ष्मीके रूपसे रहेगी।—दुर्मुख! पापी! तू अभी तक सामने खड़ा है ?— दूर हो, दूर हो, स्वामीके अन्नसे पले हुए कुत्ते! कृतघ्न!—ना ना, मैं शायद पागल हुआ जा रहा हूँ! वह तो भृत्य है; वह क्या करे। उसने तो जो जो सुना वही वही सचसच आकर कह दिया।— दुर्मुख; तूने यह सच बात क्यों कही ? झूठ ही क्यों न कहा ?—- तनिकसा मिथ्या क्यों नहीं बोला ? धन-रत्न जो इच्छा हो माँग ले, मैं तुझे वही दूँगा— तू केवल इतना कह दे कि 'मैंने झूठ कहा है'।

दुर्मुख—मुझसे यह स्वामीका दुःख नहीं देखा जाता। धर्म जाय तो जाय।—प्रभू, महाराज! उठिए। मैंने जो कहा, वह कभी

सच नहीं है—सब झूठ है, सब झूठ है, बिल्कुल झूठ है । आपकी प्रजाने महारानीके संबंधमें कुछ नहीं कहा ।

राम—ना, जा दुर्मुख—यह केवल पागलका प्रलाप है । इस समय मैं अपने आपेमें नहीं हूँ । मुझे नहीं मालूम कि मैं क्या कह रहा हूँ । ना, ना, यह सान्त्वना देना वृथा है । अब मैं तुझे दोष नहीं दूँगा—झूठ बोलनेके लिए तुझसे प्रार्थना नहीं करूँगा । मुझे निश्चित रूपसे मालूम है कि तूने एक अक्षर भी झूठ नहीं कहा । बस तू मुझे मेरे दुःखके साथ छोड़कर चल दे ।

दुर्मुख—(जाते जाते) हाय ! मुझ मूर्खने यह बात क्यों स्वामीसे कही ! उस समय मेरा बोल क्यों नहीं बंद हो गया ! यह कुसमाचार कहने के पहले ही मेरी जीभ सड़-गल या जल क्यों नहीं गई ?—उसके टुकड़े टुकड़े क्यों नहीं हो गये ! यह बात कहनेके पहले मेरे सिर पर वज्रपात क्यों नहीं होगया !—अहो मुझे धिक्कार है ! (प्रस्थान।)

राम—बहुत अच्छा !—अब मैं क्या करूँ ? कुछ समझमें नहीं आता । क्या प्रजाकी यह प्रलापवाणी सुनूँ ? सीताको त्याग दूँ ? कुत्तेकी तरह उसे अपने पाससे दूर कर दूँ ?—निठुर वृद्ध वशिष्ठ ! तुमने कैसे यह आज्ञा मुझे दी कि प्रजारंजनके लिए जरूरत पड़ने पर सीताको भी त्याग देना ? अगर आज त्याग ही देना था तो सीता को छुड़ानेके लिए फिर मैंने लङ्का में घोर संग्राम क्यों किया ? इसी लिए कि उसे वहाँसे लाकर फिर अपने आप त्याग दूँगा ?—रूढ़ अविचारके साथ सीताको गरदनिया देना ही क्या मेरे लिए योग्य है ? क्या यही मेरा कर्त्तव्य है ? सीता साध्वी, सती, आकाशके समान पवित्र, सदाकी भोली, पुण्यमयी, मुझ पर विश्वास श्रद्धा और प्रेम रखनेवाली है !—उसके साथ मैं ऐसा व्यवहार करूँगा ? ना—ना ! यह मेरा राज्य स्वप्नमें प्राप्त ऐश्वर्यकी तरह दम भरमें नष्ट हो जाय; यह

राजमहल मिट्टीमें मिल जाय; यह अयोध्यापुरी सरयूके जलमें बह जाय; यह सूर्यवंश ब्रह्मशापसे भस्म हो जाय।—आज मेरे इस पाप से सृष्टिका नाश हो जाय! पतिव्रता सीता सदा मेरे हृदयमें रहेगी! आकाशव्यापी ब्रह्माण्डके ध्वंसके भीतर—सचराचर विश्वकी भस्मके ऊपर—सीताकी पवित्र स्थिति बनी रहेगी।

(पर्दा गिरता है।)

दूसरा अंक ।

पहला दृश्य ।

स्थान—अन्तःपुरका दालान ।

समय—प्रातःकाल ।

[अकेली कौशल्या पूजा कर रही हैं ।]

कौशल्या—रातको अग्निवर्षाके समान बारंबार उल्कापात होते हैं। लाल रंगका प्रातःकाल जैसे कुपित सा होकर ताकता है। दोपहरके समय महलके मैदानमें सियारनियोंका बिकट शब्द सुन पड़ता है–जैसे वे किसी सिरके ऊपर आई हुई विपत्तिकी बात बता रही हैं। मालूम नहीं, किस कारण नित्य रातको, ईशान कोणमें, अकल्याणकी शिखाके समान, धुएँके रंगका धूमकेतु उदय होता है; जिसे देखनेसे जान पड़ता है कि किसी अनर्थकी लंबी छाया निकट ही है। इसीसे हे महामाया, ईशानी, कल्याणमयी, वर देनेवाली, मैया, तुम्हारे चरणोंमें भक्तिपूर्वक यह पुष्पाञ्जलि अर्पण करके मैं आज प्रार्थना करती हूँ कि मेरे राम पर कोई विपत्ति न आवे। अभया अपराजिता मैया, अभय दो। यह आशंका, यह घबराहट दूर करो। सहसा उदय हुए इस वज्रमेघको पश्चिम आकाशसे हटा दो–इन विपत्तिके बादलोंको टाल दो। देवी! चंडी! भगवती! संहार करनेवाली भैरवी! अपनी इस बिकट कराल मूर्तिको छिपा लो। हे दुर्गे! हे कल्याणी! दुर्गतिनाशिनी! सौम्यमूर्तिसे दर्शन दो। (प्रणाम)—सीता सीता—

नेपथ्यमें—आती हूँ।

कौशल्या—चाँदनी जैसे अपने चारों ओरके अंधकारको मिटाती

और नेत्रोंको आनन्द देती है, वैसे ही मेरी बहू साक्षात् लक्ष्मी सीता आती है—

[सीताका प्रवेश।]

सीता—क्या है सासजी ?

कौशल्या—यह क्या तुम रो रही थीं बहू ? सीता यह क्या !– मेरी ओर देखो; यह क्या तुम्हारा चेहरा पीला क्यों है ? आँखें डबडबाई हुई क्यों हैं ? यह क्या ? क्यों बहू ? चुप क्यों हो ?— समझ गई। राम पास नहीं है, इसीसे तुम्हारी यह हालत है।

सीता—नहीं सासजी !

कौशल्या—नहीं क्या, मैं समझ गई बहू। तुम्हारे हृदयके गुप्त संदेहको मैं जान गई। बहू, मैं भी रामको प्यार करती हूँ। एक ही स्नेह माता, बेटी, स्त्री आदिके हृदयोंमें जुदे जुदे रूपसे रहता है। बेटी, पुत्र राम राज्यके कामसे चंपकारण्यमें गुरु वशिष्ठके पास गये हैं। जान पड़ता है, गुरुसे कुछ सलाह लेनेकी जरूरत थी। बेटी, घबराओ नहीं। तुम्हारे और मेरे राम निश्चय ही मंगल और कुशलके साथ हैं और बहुत शीघ्र घरको लौट आवेंगे। बेटी, बहू, चिन्ता त्याग करो। रामके मंगलके बारेमें कोई भय नहीं है। राम चाहे निकट हों और चाहे दूर हों, चाहे नगरमें हों, चाहे दूर परदेशमें हों और चाहे राजमहलके अन्तःपुरमें हों, चाहे शान्तिमें हों और चाहे युद्धमें हों, वे सदा मेरे स्नेहके गढ़में सुरक्षित हैं। अनर्थकी साँस भी उनके अँगको नहीं छूसकती। जिन रामकी माता मैं हूँ और स्त्री तुम हो, उनके ऊपर विपत्तिकी छाँह तक नहीं पड़ सकती। राम सुखी हों और शीघ्र ही वीरपुत्रकी माता होनेवाली तुम भी सुखसे रहो।

(बिजली कड़कती है।)

सीता—यह क्या ?

कौशल्या—बिजलीकी कड़क है ।

सीता—आकाश तो साफ है—कहीं बादलका टुकड़ा भी नहीं देख पड़ता ।

कौशल्या—(स्वगत) सचमुच ! मेघ तो कहीं नहीं है । (प्रकट) जान पड़ता है, जल्द ही आँधी-पानी आवेगा । चलो भीतर महलमें चलें । (जाते जाते) मैया सर्वमंगला ! देवी ! सती ! मेरे रामको तुम देखना । हे भगवती, सदा रामकी रक्षा करना ।

(दोनोंका प्रस्थान ।)

दूसरा दृश्य ।

स्थान—वशिष्ठका आश्रम ।

समय—प्रातःकाल ।

[राम और वशिष्ठ ।]

राम—गुरुदेव ! यह काम मुझसे होना एकदम असंभव है । मुझसे न हो सकेगा ।

वशिष्ठ—यह मैं मानता हूँ कि यह कार्य तुम्हारे लिए असाध्य है । रघुवर, मैं जानता हूँ कि यह काम बड़ा भारी है, निष्ठुर है और दुःखदायक है, तो भी करना ही होगा । राम सबके सब कर्तव्य अगर सहज सुसाध्य हों, तो उनके करनेमें प्रशंसाकी बात ही क्या रह जाय ?—फिर भी तुम चुप हो ? नहीं कर सकोगे ?

राम—भगवन्, यह बहुत ही तीखा जल है ।

वशिष्ठ—मैं जानता हूँ कि बहुत ही तीखा है; मगर तो भी पीना होगा ।—फिर भी तुम चुप हो ? राम, तुम क्या भूल गये हो कि किस कुलमें तुम्हारा जन्म हुआ है ? तुम कौन हो ? किसके

पुत्र हो ? किसके पोते हो ? हे पुरुषोत्तम, इन बातोंको क्या तुम भूल गये हो ? याद रक्खो, तुम्हारा जन्म सूर्यवंशमें हुआ है ! तुम्हारे पिता दशरथ हैं ! जिन्होंने अपने बुढ़ापेकी अपार साधना और तपके फलस्वरूप, प्राणोंसे भी प्यारे, दोनों पुत्रोंको वन भेज दिया—केवल कर्तव्यपालनके लिए ! बताओ, उनका यह कर्तव्य-पालन क्या सहज और सुमधुर था ? क्या स्त्रीका त्याग पुत्र-त्यागसे भी बढ़कर दुःसाध्य है ?

राम—गुरुदेव, यह काम दुःसाध्य नहीं, बल्कि असाध्य है। जो असाध्य है उसे मैं किस तरह कर सकूँगा ? आप आज्ञा दीजिए, मैं राज्यकी भलाईके लिए अपने प्राण देनेको तैयार हूँ, किन्तु जानकी मुझे हजार जानसे बढ़कर प्यारी है ! उसका त्यागना—मुझसे न हो सकेगा।

वशिष्ठ—यह भी मैं जानता हूँ कि, जानकी तुमको ऐसी प्यारी है। किन्तु देखो, आत्म-हत्या और कर्तव्य-पालन एक चीज नहीं है। यह आत्महत्या करना कायर सिपाहीकी तरह, कर्तव्यकी युद्धिभूमिसे भागना है। और, कर्तव्यपालन दृढ़ संयत साहसके साथ सम्मुख समरमें वीर पुरुषके छातीमें बाणोंकी चोट सहनेके समान है।

राम—भगवन्, मैं खुद सब सह सकता हूँ; लेकिन निरपराधिनी सीताको किस दोषसे त्याग दूँ ?

वशिष्ठ—तुमने कौनसा अपराध किया था जिससे तुम्हें वनवासी होना पड़ा ? कुंभकर्ण आदिने क्या अपराध किया था जो तुमने उन्हें युद्धमें मारा ? वे सब वीर भी तो स्वदेशभक्त और भाई-पिता आदि स्वजनोंकी आज्ञा माननेवाले थे ! किस अपराधसे पुत्र पिताकी व्याधिके कारण रोगकी यन्त्रणा सहता है ? बताओ, जब कि धनीके महलके भीतर नित्य स्वादिष्ठ अन्न खाकर कुत्ते-बिल्ली

पलते हैं, तब निर्धन पुरुष किस अपराधसे नित्य भूखकी यन्त्रणा सहता है ?—देखो, इस विश्वमें तुम कौन हो और मैं कौन हूँ ? स्वयं अपना कोई नहीं है । सब कोई समाजकी रक्षित संपत्ति हैं—उनपर समाजका अधिकार है । व्यक्तिमात्रको समाजके चरणोंमें अपनी सब इच्छा, संपत्ति और सुखकी बलि देनी होगी—कोई अपराध है या नहीं, इसका बिचार व्यर्थ है । इस ब्रह्माण्डभरमें, विराट् प्रवाह-में, अनन्त नियमका स्रोत अव्याहतरूपसे चल रहा है । उसीमें सब नर-नारी बहते जा रहे हैं । उस नियमस्रोतकी गतिको कोई नहीं रोक सकता । जो कोई उसके विरुद्ध अड़ता है वह शीघ्र ही उसमें डूब जाता है । स्वर्ग और नरक, पाप और पुण्य, विधाताकी सृष्टि नहीं है । और अपराध ?—इस जगतमें कौन किसका विचार करेगा ? समाज कहता है कि नरहत्या पाप है; किन्तु युद्ध-विग्रह आदिमें जो हजारों नर-हत्यायें होती हैं, उन्हें कौन पाप कहता है ?—बिधाता कहता है ?—पर वह तो खुद ही पल पल भरमें विश्वमें सैकड़ों हत्यायें और सैकड़ों अत्याचार करता है ! उन्हें कौन गिनता है ?— कौन उनका विचार करता है ?

राम—तो फिर पाप पुण्य कुछ नहीं है ?

वशिष्ठ—हाँ नहीं है । तुम यह प्रश्न आँधीसे करो, वह कहेगी 'नहीं है;' घोर प्रबल बहिया या बाढ़से यह प्रश्न करो, वह कहेगी 'नहीं है;' जाओ, वज्रपात, भूकंप, दावानल, बुढ़ापा, दुर्भिक्ष, सर्पदंशन आदिसे यही प्रश्न करो, सब यही उत्तर देंगे कि 'न पाप है, न पुण्य है ।' हे रघुवर, जिन कामोंसे समाजका अमंगल होता है वे ही पाप हैं । पाप और पुण्य समाजकी दण्डबिधि है, और तुम उसी समाजके प्रतिनिधिके पद पर स्थित हो—समाजके भृत्यमात्र हो ।

राम—गुरुदेव, आपकी ये बातें मेरी समझमें नहीं आतीं । मैं

केवल इतना ही जानता हूँ कि तुम आज्ञा करो और मैं काम करूँ।

वशिष्ठ—तो बस जाओ रघुवर! महाराज, अपने कर्तव्यका पालन करो। ब्राह्मणजातिने इससे बढ़कर कठिन निष्ठुर काम किया है। परशुरामने पिताकी आज्ञासे माता तककी हत्या कर डाली है।–माताकी हत्या पत्नीके त्यागसे बढ़कर कड़वी और निष्ठुर बात है। रघुवर, राजभक्ति पाना अत्यन्त सुलभ नहीं है; उसके लिए बहुत कुछ स्वार्थत्याग करना पड़ता है।

राम—भगवन्, अपने चरणोंकी रज दीजिए।

वशिष्ठ—जाओ वीर, तुम इक्ष्वाकु कुलके दीपक हो! अयोध्या-नाथका कल्याण हो। (प्रस्थान।)

तीसरा दृश्य।

स्थान—उर्मिलाका भवन।

समय—रात।

[लक्ष्मण और उर्मिला।]

उर्मिला—किसने कहा?

लक्ष्मण—खुद रामचन्द्रने।

उर्मिला—यह प्रलापकी बात है—असंभव है।

लक्ष्मण—उर्मिला, यह बिल्कुल ठीक और सत्य है।

उर्मिला—सत्य है?

लक्ष्मण—हाँ सत्य है।

उर्मिला—इसका कारण?

लक्ष्मण—कारण तो मैं नहीं जानता। केवल इतना ही जानता हूँ कि नगरकी प्रजा जानकीके लिए निर्वासन-दण्ड चाहती है।

उर्मिला—(लम्बी साँस लेकर) अभागिनी! बहन सीता!

मेरी प्यारी बहन !—तो रामचन्द्र अपनी प्रतिज्ञा पर अटल हैं ?

लक्ष्मण—रामचन्द्रकी प्रतिज्ञा टलते या विचार बदलते कब किसने देखा है ?

उर्मिला—वे हैं कहाँ ?

लक्ष्मण—अपने कमरेमें किवाड़े बंद किये धरती पर चुपचाप बैठे हैं । सूखी आँखोंसे-शून्य दृष्टिसे-पृथ्वीकी ओर ताक रहे हैं । राज-परिवारके आदमियोंके सिवा और कोई उनके पास नहीं जा सकता ।-उर्मिला, तुम्हें एक काम करना होगा ।

उर्मिला—क्या ?

लक्ष्मण—राजरानी सीतासे जाकर यह हाल कहना होगा ।

उर्मिला—(चौंककर) मुझे !

लक्ष्मण—प्रियतमे ! अयोध्याके महाराजने मुझे इससे भी बढ़कर कठिन काम सौंपा है । इन्हीं हाथोंको सीताके निर्वासनदण्ड का काम करना होगा । उनके साथ जाकर मुझे ही वाल्मीकि ऋषि के आश्रममें उन्हें छोड़ आना पड़ेगा ।

उर्मिला—(सोचकर) अच्छा तो मैं बहन सीताके पास जाती हूँ ।

लक्ष्मण—उर्मिला ! बड़ी ही सावधानी और समझदारीसे सँभालकर धीरे धीरे यह बात रानीके कानोंतक पहुँचाना ।

उर्मिला—नहीं जानती, यह हाल सुनकर सीता क्या कहेंगी—उनकी क्या दशा होगी ! सीता स्वामीके वियोगके खटकेसे सदा शंकित और विह्वल रहती हैं । हाय ! यह वज्रपात सी खबर सुनकर गर्मियोंकी दोपहरकी लू लगनेसे कोमल नम्र जुहीकी कली-की सी दशा उनकी हो जायगी !

लक्ष्मण—उनके हृदयमें अवश्य ही गहरा घाव हो जायगा ।

तुम प्रिये, अपने असीम स्नेहसे उस वेदनाको शान्त या कम करने-की कोशिश करना। (प्रस्थान।)

चौथा दृश्य।

स्थान—राजसभा।

समय—सवेरा।

[सभाविसर्जनके बाद सिंहासन पर अकेले रामचन्द्र बैठे हैं।]

राम—यही तो राजाका पद है–यही तो राज्य है! हाय, यह सोनेका पानी फिरी हुई लोहेकी हथकड़ी है; कालकूटसे भरा हुआ सोनेका पात्र है! यह अन्त:सारशून्य थोथा गौरव है! ऊपरसे पुण्यकी पोशाक पहने यह घोर पाप है। यह पक्षीका सोनेके पिंजड़े में रहना है। ओफ! यह निंदित बिलास है। यही पद पानेके लिए विश्वमें मनुष्य नित्य हत्या, झूठ, झगड़ा, मक्कारी और तरह तरहकी बेईमानियाँ करते हैं! केवल औरोंका भृत्य होनेके लिए इतनी चेष्टा की जाती है! हाय! भरतको यही लोहेकी जंजीर पहनानेके लिए माता कैकेयीने इतना कौशल रचा था! ऊँचे पर्वतको दूरसे देखकर सब लोग उसकी ऊँचाईसे डाह करते हैं; किन्तु हाय कोई यह नहीं देखता कि वह पर्वत बिना साथीका अकेला पड़ा रहता है—उसके ऊपर सूखे कठिन पत्थरोंका बोझ लदा रहता है। गर्मियोंमें वह तपा करता है, जाड़ोंमें वह बर्फसे ढका रहता है, वर्षामें उसके ऊपर आँधी पानीका प्रहार होता है। उसके एकान्त सुनसान हृदयमेंसे पत्थर फोड़कर जो 'आह' निकलती है उसे कोई नहीं सुनता। उसके सूखे हृदयकी आह जहाँसे निकलती है वहीं लीन हो जाती है।–यह जीवन क्लेश, चिन्ता, थकन आदिसे परिपूर्ण है;—इस मनुष्य जीव-

२०४८

समें अशान्तिका अन्त नहीं । हाय ! दया-माया ममता-स्नेह आदि का त्याग करना होगा—मौतकी घड़ी तक केवल आशंका और संदेहका सामना करना पड़ेगा ! इस नरजीवनमें सदा यही भय बना रहता है कि न जानें कब किस छिद्रसे अमंगल प्रवेश करे ! अत्यन्त दरिद्र, नीचसे भी नीच साधारण प्रजा मुझसे बढ़कर सुखी है । वे लोग नित्य परिश्रम करके अन्न कमाते हैं और सुखसे खाते हैं—उन्हें दुनियाकी ऐसी झंझटोंसे कुछ सरोकार नहीं । काम करके वे अपने घरको लौट आते हैं और बेखटके आराम करते हैं । कठिन पृथ्वी पर वे सोते हैं, पर थकनके मारे वह भी उन्हें कोमल जान पड़ती है । उनका हृदय चिन्तासे शून्य होता है और वे घरके लोगोंके प्रेमको सुखपूर्वक भोगते हैं । कोई इस बातकी याद भी नहीं दिलाता कि उनका स्नेह योग्य पात्रके ऊपर है या नहीं । उनकी यह स्वाधीनता धन्य और प्रार्थनीय है, इसमें कोई सन्देह नहीं । अहो अत्यन्त दीन किसानोंका इतिहास कैसी निर्मल और पवित्र कथा है ! किसानकी छोटी सी झोपड़ीमें दुर्गन्ध मय यह ग्लानिकी साँस नहीं घुसती कोई उसके हृदयसे प्यारा प्रेम-पवित्र हार तोड़-कर दूर फेंक देना नहीं चाहता । अहो कैसे कठिन हृदयका, कैसा अभागा राम है ! हाय, इस राज्यको छोड़कर अगर किसी दूरके बनमें जाकर मैं शान्तिमय, पवित्र, अतुल, अनन्त, अक्षय विश्राम-विभवके साथ जीवनके दिन बिता सकता !—अहो, राजाका काम कैसा कठिन है !

[भरतका प्रवेश ।]

भरत—महाराज, यह क्या सुनता हूँ !

राम— क्या यह बात इसी बीचमें नगर भर में फैल गई ?

भरत—नहीं महाराज, केवल राजमहलमें ही यह चर्चा फैली

है।-पर क्या यह सच है ?

राम—सच है प्यारे भाई।

भरत—आपने पक्का इरादा कर लिया है ?

राम—हाँ, पक्का इरादा कर लिया है।

भरत—यह असंभव है।-रघुवीर, आप धर्मनिष्ठ, न्यायनिष्ठ और बुद्धिमान हैं। यह निठुराई क्या आपहीका विधान है ?-आपके द्वारा ऐसा होना असम्भव है।

राम—असंभव नहीं है। क्या कहूँ भैया ! तुम सब जानते हो। तुम जानते हो कि अयोध्याकी प्रजा आज सीता का त्याग चाहती है !

भरत—महाराज, तो क्या प्रजा जो चाहेगी वही करना होगा ? जो माँगेगी वही देना होगा ? अयोध्याकी प्रजा अगर आज चाहे कि आप सरयू के प्रवाहको रोक दें, कैलासके शिखरको उखाड़ लावें, महश्वेरकी मूर्तिको उठाकर कीचड़में फेंक दें; अथवा अयोध्या-बासियोंकी यह इच्छा हो कि नगर नगर के महल, मंदिर, देवस्थान आ-दि तोड़ फोड़ डाले जायँ और गाँव-बस्ती आदिमें आग लगा दी जाय, तो क्या वह भी करना होगा ? प्रजा अगर चाहे कि चराचर विश्व बिना राजाके राज्यकी तरह हाहाकारसे भर जाय, राज्यभरमें विशृंखला उपस्थित करके उलटी नीतिका प्रचार किया जाय, तो क्या वही कीजिएगा ? प्रजा अगर कहे कि आप बन्धु, मंत्री, भाई, भार्य्या, माता आदिका सिर काट कर उसे दीजिए, तो क्या वही देना होगा ? आज यह रीति--अयोध्याके राज्यमें यह राजनीति बरती जायगी ?-कहाँ पवित्रताकी मूर्ति सीता देवी और कहाँ कुत्तेकी तरह हेय अयोध्याकी प्रजा ! कहाँ सुदूर नील आकाशमें प्रकाशमान उज्ज्वल नक्षत्रोंकी आभा और कहाँ कीचड़में पड़े हुए घृणित कीड़े !

राम—प्राणप्रिय भाई, क्या कहूँ ! दूसरा मार्ग ही नहीं है। सुनो भरत, यह कुलगुरुवशिष्ठकी आज्ञा है ।

भरत—समझ गया । उन वशिष्ठकी यह आज्ञा है जिनके बाल पक गये हैं, जिन्हें बड़ी बड़ी जटायें और दाढ़ी-मूछें भयानक बनाये हुए हैं, जो बहुत दिन तप करके प्रेम और स्नेहकी सरस प्रवृत्तियों को सुखा चुके हैं । वे रूखे, शीर्ण, कृशकाय, दयामायासे हीन, निर्लिप्त वशिष्ठ प्रेमके पवित्र सम्बन्धको क्या समझें ? अन्ध-चिन्तामें पड़े हुए वशिष्ठ क्या समझें कि रमणीके प्रेममें कैसी सान्त्वना है ? वे सतीके गंभीर कोमल हृदयका हाल क्या जानें ? महाराज, आप ब्राह्मण वशिष्ठकी आज्ञा से अयत्नके साथ इस अ-मूल्य स्त्रीरत्नको दूर कीचड़ में फेंक देंगे ? महाराज, अगर सती साध्वी स्त्रीके साथ आप ऐसा व्यवहार करेंगे तो फिर नारीका सम्मान कौन करेगा ? दुर्बल, सहनशील रमणीका हृदय तो फिर जगत में घर घर पुरुष की क्रीड़ाकी सामग्री समझा जायगा । स्त्रीके हृदयकी पीड़ा पतिके उपहासकी चीज बन जायगी । भारत के हर देशके हर घरमें अबलाके प्रति पतिका कर्त्तव्य शिथिल हो जायगा ।

राम—भाई भरत, ये सब युक्तियाँ वृथा हैं; मैंने जो कर्तव्य निश्चय कर लिया है वह अटल है । मेरा यह विचार दृढ़ है ।

भरत—(दम भर चुप रह कर) अगर यही स्थिर संकल्प है तो अयोध्याके लिए अत्यन्त दुर्दिन उपस्थित है ।–अब और मैं क्या कहूँ । अगर अयोध्याके महाराज की यही प्रतिज्ञा पक्की है तो यह भी निश्चय है कि मैं अब इस अयोध्या नगरी में नहीं रहूँगा । किसी पवित्र वनके बीच दूर गाँव में जाकर रहूँगा, जहाँ ऐसा नि ष्ठुर विधान न होगा, सती साध्वीका ऐसा अपमान न होगा, न्याय और नीतिका ऐसा विप्लव न होगा, यह अराजकता और अविचार न

होगा। इस राज्य और इस पुरको छोड़ जाऊँगा।

राम—भरत, भरत, तुम भी निष्ठुर बन गये !

[शान्ताका प्रवेश।]

शान्ता—महाराज, मेरे यहाँ आनेको, मुझ स्त्रीकी इस अनधिकारचर्चा को क्षमा करना। किन्तु जो बात मैंने सुनी है उससे हृदयको बड़ी व्यथा हुई है। इसीसे अन्तःपुर छोड़ कर स्त्रीजातिकी स्वाभाविक लज्जा और भयको दूर करके, यहाँ आई हूँ। महाराज ! क्षमा करना। मैं आप से यही पूछने आई हूँ कि आज अन्तःपुरमें यह क्या चर्चा सुन पड़ती है ? यह क्या सच है ?

राम—सच है।

शान्ता—यह बात सच है ? कैसा आश्चर्य है ! राम ! यह कहनेमें तुम्हारे कण्ठका स्वर तनिक भी नहीं काँपा ? हे रघुवर ! आखोंमें आँसू नहीं आये ?

राम—सुनोगी बहन ? राज्य में शान्ति स्थापन के लिए आज सीता के त्यागकी जरूरत है।

शान्ता—राज्यमें शान्तिस्थापनके लिए सीता का वनवास जरूरी है !- राम, यह कैसा व्यंग्य है ? यह कैसा उपहास है ? शान्तिरक्षा के लिए सीताका त्याग ! यह किसने कहा ? तुम्हारे कानों में यह विष किसने ढाल दिया ? तुम्हारे वामभागमें और किसीको बिठाने की गुप्त अभिलाषासे किसने यह सलाह तुमको दी है ? यह कैसी पहेली है ? महारानी सीता राज्यमें अशान्ति पैदा करनेवाली कब से हुई ? सीता अशान्ति-शिखा हैं ? तो शायद सीता दूर एकान्त राजमहलके अन्तःपुरमें बैठकर गुप्त रूपसे विद्रोहका षड्यन्त्र रच रही हैं-क्यों न ? राम, बोलो बोलो, मैं मूर्ख स्त्री हूँ; राजनीति के बारेमें अधिक नहीं जानती।

राम—व्यंग्य करना छोड़ो । सुनो, आज अयोध्याकी प्रजा एक स्वर से सीताके निर्वासन की इच्छा प्रकट कर रही है ।

शान्ता—इतना ही ? अच्छा सुनूँ तो, सीताका अपराध क्या है ?

राम—सो तो मैं नहीं कह सकता । तुम्हारे सामने किस मुँहसे कहूँ बहन ? वह निन्दनीय बात तुम्हारे सुननेके योग्य नहीं है ।

शान्ता—तो भी मैं सुनूँगी । उन लोगोंने सीताका क्या दोष देखा है ? उसे सुनकर मुझे कलंककी भागिनी बनना पड़े, तो पड़े, पर मैं अवश्य सुनूँगी । तुमसे बारंबार यही प्रार्थना करती हूँ कि वह बात मुझसे कहो । सीताका क्या दोष है ?

राम—प्रजा कहती है कि जानकी असती है ।

शान्ता—(चौंककर) क्या—जानकी असती हैं ! ! ! महाराज ! सच ! वे लोग यही कहते हैं ?—वे पागल हैं ! उन्मत्त हैं ! किस निपुण गुणीने यह अफवाह उड़ाई है ?—कुछ समझमें नहीं आता कि यह सुनकर मैं रोऊँ या हँसूँ ! भैया, मुझे क्षमा करना; यह दिल्लगी तो नहीं है ? मैं सोती हूँ या जागती ? मैं यह सपना तो नहीं देख रही हूँ ? जानकी असती हैं ? और भी कुछ कहने को बाकी है ? तुमने यही बात कही है ? या मेरे सुननेमें भ्रम होगया है ? तो फिर कहो कि सूर्य पूर्वमें अस्त और पश्चिममें उदय होते हैं । कहो, बिजली पृथ्वीसे पैदा होती है । कहो, कमल कुत्सित है, चन्द्रमा जलाता है और अग्नि शीतल है । हाँ कहो, वायु स्थिर है, पर्वत चंचल हैं, जल कठिन है । कहो श्वेत श्वेत नहीं है, नील नील नहीं है । महाराज ! मैं तो जानती थी कि सतीत्वहीका नाम सीता है ! प्रातःकाल खिली हुई जुहीके समान निर्मल और नक्षत्रके समान पवित्र, सदा पतिके ध्यान में तत्पर सीता अ-सती हैं ! ! ! रघुवर, नहीं जानती, आज किस भ्रममें तुम पड़े हुए हो । तुमने इस निन्दा पर विश्वास कर लिया

है ? —महाराज, मैं जानती हूँ कि राजनीतिमें दखल देना स्त्रियोंका काम नहीं है। प्रश्न करना, तर्क करना स्त्रीकी जातिके लिए उचित नहीं है। पृथ्वी के समान धीर भावसे चुपचाप सहना ही उसका काम है। नित्य उसके विरुद्ध विश्वभरमें मिथ्या ग्लानिका प्रचार होता है, पर उस ओर कान देना उसका कार्य नहीं है। स्त्रीका कर्तव्य केवल यही है कि विरुद्धपक्षकी चोटों को छाती बढ़ाकर सहा करे । स्त्री केवल सेवा, स्नेह और भक्ति करेगी—उसका बदला उसे मिले या न मिले, वह हँसते हँसते अपने जीवनका सुख पुरुषजातिके चरणोंमें अर्पण कर देगी। बदलेमें कुछ मिलता है या नहीं, इधर उसका लक्ष्य ही न होगा। इसमें संदेह नहीं कि स्त्रीका हृदय बहुत कुछ सह सकता है; मगर तो भी उसकी एक सीमा है।—अन्त है। अगर स्त्री पुरुष-चरणोंमें अपना हृदय अर्पण करके उसके बदलेमें छातीमें लातकी मार पावे, प्रेमके बदलेमें निर्वासन-दण्ड पावे, दयाके बदलेमें उसकी पीठमें छुरी भोंकी जाय; अगर सिधाईके बदलेमें कपट-व्यवहार, विश्वासके बदलेमें कृतघ्नता उसे प्राप्त हो; तो भी स्त्रीकी जाति उसे सह लेगी ? महाराज ! इस संसारमें अगर नित्य स्त्रीके भाग्यमें यही सहना बदा है, तो इसी घड़ी इस पृथ्वीपरसे—इस जगतसे—नारी-जाति उठ जाय !—उसका नाम-निशान मिट जाय !

[कौशल्याका प्रवेश ।]

कौशल्या—बेटा राम !

राम—मा, तुम यहाँ क्यों आईं ?

कौशल्या—जो दारुण बात सुनी है, उसे सुनकर मैं अन्तःपुरमें कैसे स्थिर रह सकती थी ? प्राणप्रिय पुत्र ! राम ! क्या यह सच है कि तुम राजवधू राजकी लक्ष्मी सीताको त्याग दोगे ? उसे वन भेज दोगे ?

राम—हाँ सच है माता।

कौशल्या—इस बात पर मैं विश्वास करूँ? तुम न्यायनिष्ठ कहकर प्रसिद्ध हो। इस बातको भी मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि सीता तुम्हें प्राणोंसे बढ़कर प्यार करती है। राजाकी बेटी, राजाकी बहू और राजाकी स्त्री सीता बड़ी ही अभागिनी है! वह जबसे मेरे घर आई तबसे सुखका नाम नहीं जानती! अन्तको तुम भी उससे विमुख हो गये? तुमने भी उसे छोड़ दिया? सुनो बेटा राम!

राम—माता तुम भी—

कौशल्या—राम, बेटा, मेरी बात मानो। प्राणाधिक प्रिय पुत्र! मेरी बात रक्खो। तुम नासमझ नहीं हो; मैं तुमसे अनुरोध करती हूँ, यह इरादा छोड़ दो।

राम—माता, तुम अनुरोध न करो। मैं तुम्हारी यह बात नहीं मान सकूँगा।

कौशल्या—परमेश्वर जाने, मैं अपना जीवन रहते यह नहीं करने दूँगी—ऐसा नहीं होने दूँगी।

राम—हाय कैसी विडम्बना है!

कौशल्या—तुम न्यायप्रिय और धर्मनिष्ठ कहकर प्रसिद्ध—

राम—माता, तुम नहीं जानतीं यह महर्षि वशिष्ठकी आज्ञा है।

कौशल्या—होने दो वशिष्ठकी आज्ञा। इस आज्ञाके पालनमें धर्मका लेश नहीं है। यह काम अच्छा नहीं है—अन्याय है। मैं यह काम नहीं होने दूँगी।

राम—मैं प्रतिज्ञा कर चुका हूँ—

कौशल्या—मैं भी तो प्रतिज्ञा कर चुकी हूँ कि यह उन्मत्त आत्मघाती पाप-कार्य तुमको नहीं करने दूँगी।

राम—माता, स्थिर होकर विचार करके देखो।

कौशल्या—मैं विचार कर चुकी। यह काम नहीं करने दूँगी। किस नीतिके अनुसार तुम गुरुकी आज्ञाको माताकी आज्ञासे अधिक माननीय समझते हो? राम, सोचो तो, किसने तुमको नव महीने पेटमें रक्खा है? किसने तुमको बोलना सिखाया है? किसने तुम को दिनरात छाती पर रखकर पाला है? गुरुने या माताने? एकबार अगर माताकी आज्ञासे तुम गुरुकी आज्ञा न मानोगे तो कुछ भी पाप न होगा। अपने जीवन भरमें तुमसे पहली और पिछली मेरी यही भिक्षा है। गुरु-की आज्ञा क्या इससे भी बड़ी है?—देखो, तुम्हारी माता मैं आज सीताके लिए तुमसे भिक्षा माँगती हूँ—क्या न दोगे?

राम—माता, माता, तुमने आज यह क्या किया! तुम जमीन पर घुटने टेके हो, और मैं महाराज बना हुआ सिंहासन पर बैठा हूँ। सचमुच मैं ज्ञान और सुध-बुध गवाँ बैठा हूँ। तुम आँखोंमें आँसू भरकर दीन भावके साथ मुझसे भिक्षा माँगोगी और मैं 'नहीं' कर जाऊँगा? यह हो नहीं सकता। माता, तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो। तुम मेरी पूजनीया माता, मलिन धूसर वेषसे, आँखोंमें आँसू भरकर, घुटने टेककर, मुझसे भिक्षा माँगो और मैं ऊँचे सिंहासन पर बैठकर कहूँ कि 'मैं नहीं दूंगा!' ऐसा हो ही नहीं सकता। मेरी माता! चाहे सत्य नष्ट हो, प्रतिज्ञा भ्रष्ट हो, रामको लाख कष्ट हो, पर मैं स्पष्ट शब्दोंमें कहता हूँ कि तुम्हारी इच्छा पूरी हो!

कौशल्या—(प्रसन्न होकर) प्राणाधिक पुत्र! तुम्हारी बड़ी आयु हो! और क्या कहूँ बेटा! बूढ़ी कौशल्याका यही आशीर्वाद है कि तुम इस अमूल्य रत्न जानकीको सदा यत्नके साथ अपने हृदयमें स्थान देना। [प्रस्थान।]

शान्ता—मैं भी जाऊँ, जाकर यह शुभ समाचार अन्तःपुर में सुनाऊँ, जिसमें सबके हृदयकी चिन्ता और घबराहट दूर हो ।

(प्रस्थान ।)

राम—सबकी इच्छा पूर्ण हो गई—अब जाओ, अकेले रामको छोड़ जाओ ।–(सबके चले जाने पर) देखूँ, सोचकर देखूँ, मैंने यह क्या किया । सत्यको, प्रतिज्ञाको तोड़ डाला ।—देखूँ देखूँ, यह क्या किया ! गुरुके आगे अंगीकार किये हुए वचनसे पलट गया ! बहुत जल्दी सारा संसार यह बात जान जायगा कि राजा रामने सत्यको छोड़ दिया–प्रतिज्ञाको तोड़ दिया ! दूर भविष्यमें होने वाले सूर्यवंशके लड़के यह कहकर मुझे हजारों धिक्कार देंगे कि राम अपनी प्रतिज्ञासे टल गया था ! जिस सत्यकी रक्षाके लिए महाराज दशरथने अपना जीवन त्याग दिया वही सत्य छोड़नेवाले मुझको सारा जगत् हँसेगा । स्वर्गमें देवगण मेरी ओर से अपना मुँह फिरा रहे हैं–लज्जाके मारे उनके चेहरे लाल हुए जा रहे हैं । हे स्वर्गके देवताओ ! सत्य छोड़नेवाले अभागे राघवकी रक्षा करो—बचाओ ।

(घुटने टेककर प्रार्थना करने लगते हैं ।)

[सीता का प्रवेश ।]

सीता—प्राणेश्वर !

राम—प्रियतमे !

सीता—यह क्या ? प्रियतम, आज तुम्हारा चेहरा पीला है, शरीर काँप रहा है और तुम पृथ्वी पर पड़े हुए हो ! उठो प्यारे, तुम्हारी यह हालत क्यों है ?

राम—सती ! मुझे न छूना । तुम पुण्यवती हो और मैं पापी हूँ । मेरे पापकी कोई सीमा नहीं है । मेरे द्वारा इक्ष्वाकुके वंशमें

कलंककी कालिमा लगी है।

सीता—मैं सब सुन चुकी हूँ स्वामी। उठो प्राणेश्वर! उठो जीवन-वल्लभ! मेरे सर्वस्व! क्या यह भी संभव है जो तुम कह रहे हो? प्राणाधिक, सीताके कारण तुम व्यर्थ व्यथा पा रहे हो। उठो, तुम्हारा यश और पुण्य सदा अखंडित और अक्षुण्ण रहेगा। प्रभु, तुमने पिताके सत्यकी रक्षा की थी, मैं भी पतिके सत्यकी रक्षा करूँगी। सीताके कारण तुम्हारे पुण्ययशकी किरण कभी मलिन न होगी। उठो, हे यशस्वी नाथ! मैं हँसती हुई यह अपना हृदय आगे बिछा दूँगी, तुम इसे रौंदते हुए सुखसे यशके मन्दिरमें चले जाओ। सीता बैठी हुई तुम्हें चिन्तित और उद्विग्न देखा करेगी? कभी नहीं। सीता तुम्हारे सुखका विघ्न है!—तुम अपने मनसे सब चिन्ता दूर करो; मैं यह अयोध्यापुरी छोड़कर वनको जाऊँगी।

राम—अब भी पापी प्राण हृदयसे बाहर नहीं निकले? मैं कैसा पिशाच हूँ? मैं कैसा पत्थर हूँ?

सीता—उठो नाथ! मेरे मनमें अगर कोई अभिलाषा है तो यही कि तुम्हारे मुखमें मनोहर हँसीकी रेखा देखकर जाऊँ—

राम—यह क्या घोर तूफान है?—आँखोंके आसपास यह कैसा अन्धकार घना होता आरहा है। हृदयके भीतर जैसे समुद्र उमड़ रहा है। सीता! तुम कहाँ हो?—सीता!—

सीता—(रामको हृदयसे लगाकर) प्राणेश्वर!

(पर्दा गिरता है।)

तीसरा अंक ।

पहला दृश्य ।

स्थान—वाल्मीकिका तपोवन ।

समय—तीसरा पहर ।

[सीता और वासंती ।]

(दूर पर तापसोंके बालक-बालिका हाथ जोड़ ईश्वरकी स्तुति करते हैं ।)

"हे असीम आकाशविहारी देव ब्रह्म ! यह सब—यह अनन्त ब्रह्माण्ड तुम्हारा ही खण्डरूप है । हे महाशक्तिमय ! महाशून्य अव्यय अक्षय तुम्हारी ही ज्योतिसे परिपूर्ण है । प्रदीप्त आकाशमें विक्षिप्त विपुल पृथ्वी तुम्हारी ही शक्तिसे घूमती है । यह असीम विश्व तुम्हारी ही निश्वाससे साँस लेता है । तुम्हारे चरणतलमें नित्य कोटि सूर्य कोटि चन्द्र जलते और बुझते हैं—उदय और अस्त होते हैं । धरणीके ऊपर फेरी लगाते हुए वर्षा—वसन्त आदि ऋतु देख पड़ते हैं । गंभीर गर्जनके साथ बिजली तुम्हारी ही महिमाकी घोषणा करती है । सुगन्धित कुसुममें तुम्हारी ही सौम्य नम्र माधुरीका हास्य देख पड़ता है । ऊँचे पहाड़ोंकी चोटियाँ, ऊँचे शिखर, घने नीले जलसे परिपूर्ण गंभीर सागर, निर्मल झरनोंकी कान्ति, भूकंप, आँधी, धीर स्निग्ध मलयपवन, मनोहर माधवी लता, कराल दुर्भिक्ष, शस्यश्यामल खेतोंकी छवि, मनुष्य, पतंग, कीड़े, मकोड़े, नगर, वन, क्रोध, स्नेह, सुख, दुःख, यह सब भूमि, सब तुम्हीं हो । सारे विश्वमें—सब प्राणियोंमें तुम्हीं विराजमान हो । तुमको प्रणाम है ।"

सीता—कैसी मधुर स्तुति है ! शान्त मेघ-निर्घोषके समान यह परमात्माकी स्तुति सुननेसे जैसे जी ही नहीं भरता । मेरा हृदय जला करता है; किन्तुयह स्वर्गीय अमृत पान करते ही जलन क्लेश, थकन, भूख–प्यास सब जैसे दूर हो जाता है । और, मैं जैसे अपने दुर्बल हृदयमें बल पाती हूँ ।

वासन्ती—बहन, यह बनकी बस्ती अभिराम, शान्तिमयी और मनोहारिणी है । यह स्थान अत्यन्त शान्त, पुण्यमय और पवित्र है । इसके लिए सूखे राज्यभोगका त्याग करना कुछ बहुत कठिन नहीं है ।

सीता—हाय बहन, जब मैं प्रियतमके साथ पञ्चवटीके बनमें रहती थी—

वासन्ती—वह बात याद करना व्यर्थ है; उसे भूल जाओ । वह देखो, मृगी गर्वके साथ सींग उठाकर अपने बच्चेसे खेल रही है । आहा कैसा सुन्दर दृश्य है ! वह दूरपर लगातार नदीका कल-रव नहीं सुनती हो ? बरगदकी डालियोंकी जड़ें धरतीको चूम रही हैं । कैसा अद्भुत दृश्य है ! वे पत्ती कैसे सुन्दर हैं ! वह नव पल्लवोंसे परिपूर्ण कुंज देखो कैसा सुन्दर है ! वे खेतोंकी लहराती हुई लहरें, वह पर्वत–शिखर कैसा मनोहर है !

सीता—क्या देखूँ सखी ! क्या देखूँ वासन्ती,–जिधर देखती हूँ उधर वही एक ही दृश्य, वही राघवका मुख देख पड़ता है । हे सखी, वही बीते हुए दिनोंका सुख याद पड़ता है । उन्हीं प्राणनाथ का खयाल—उन्हींका चित्र—आँखोंके आगे नाचा करता है । वासन्ती, तुम जानती हो कि मैं अपने स्वामीको कितना प्यार करती हूँ ?—मैंने अपने इस छोटेसे हृदयमें एक क्षोभको प्राप्त लहराता हुआ सागर दबा रक्खा है; अपनी सब अभिलाषाओंको सूखी

तपस्यामें जकड़ रक्खा है । तो भी तनिक असावधान होने पर दम भरमें न जानें कब वह बाँध टूट जाता है; वह सोता हुआ प्रेम जाग उठता है; रुँधे हुए आँसुओंका जल उन्मत्त उच्छ्वासके साथ निकल पड़ता है । बहन, तुम्हारी निद्राहीन व्यग्रता और आग्रह मुझे दिन-रात घेरे हुए रहता है ।—यह दुःख मेरे हृदयमें सेलके समान खटकता है कि मैं खुद अभागिनी हूँ; उस पर जिन लोगोंके बीचमें आई हूँ उन्हें भी अपने दुःखके आवर्तमें खींच लेती हूँ ।

वासन्ती—बहन, जब चंद्रमा मेघों से ढका रहता है तब संसार के लोग क्या हँसते हैं ?–रात क्या हँसती है ? हे सुहासिनी, उन सब पिछली बातोंको भूल जाओ । बहन, हम तपस्विनी हैं; हमारे लिए प्रेमकी बातें मिथ्या दुःस्वप्न अथवा पागलका पागलपन ही हैं । देखूँ—कुश और लव कहाँ हैं ?

(प्रस्थान ।)

सीता—कमनीय सुन्दरी सन्ध्या आरही है । सारा जगत् सुनहले रंग से रँग गया है । नील आकाश में कोई बादल का टुकड़ा भी नहीं है । वनभूमि मुख उठाये स्तब्ध और मुग्ध दृष्टि से एकटक आकाशकी ओर ताक रही है । सारा विश्व स्थिर और चुपचाप होकर मानों जगदीश्वरकी उपासनामें लगा हुआ है ।—सब वही और वैसा ही है, जैसा सुन्दर और शान्त पञ्चवटीका वन था । हे हृदयसर्वस्व ! हे प्रियतम ! तुम कहाँ हो ? तुम कहाँ हो ?—अब मुझसे आँखोंमें आँसू नहीं रोके जाते ।

(प्रस्थान ।)

दूसरा दृश्य।

स्थान—राजसभा।

समय-दोपहरसे पहले।

[राम और लक्ष्मण।]

राम—प्रिय भाई, भरत राज्य छोड़ कर चले गये हैं—कहींदूर माण्डवीके साथ निकल गये हैं। शत्रुघ्न भी लवणासुर से लड़ने मधुपुरी को गये हैं। यह महल भी शून्य है। हे लक्ष्मण, केवल तुम ही देवता की तरह अपने गहरे प्रेमसे रामको घेरे हुए हो।

[कुछ ऋषियोंके सहित वशिष्ठ का प्रवेश।]

वशिष्ठ—महाराज, दक्षिण दिशासे ये ऋषि लोग एक अभियोग लेकर आपके पास आये हैं।

राम—देव, मैं अपने को बड़ा भाग्यशाली समझता हूँ। ऋषियों की चरणरज से आज अयोध्यापुरी और यह राजभवन पवित्र हो-गया। ऋषिगण, आज किस श्रेष्ठ आज्ञासे रामको धन्य करनेके लिए आप लोगोंका पधारना हुआ है?

वशिष्ठ—ऋषिगण, तुम्हें क्या कहना है? जो कहना हो सो कहो।

१ऋषि—महाराज! मेरा पुत्र मर गया है।

राम—क्या उसे जिलाना होगा मुनिवर? भगवन्, मैं संजीवनी मंत्र नहीं जानता!

वशिष्ठ—महाराज, सुन पड़ता है कि दक्षिण में शैवलपति शूद्रराज शंबूक इस समय तपस्या, वेदपाठ, धर्म कर्म आदि कर रहा है। राजन् शास्त्र में शूद्र के लिए इन कर्मोंका निषेध है। इसीसे यह

दुर्घटना हुई है । शूद्रक अपना आचार छोड़कर अत्याचार कर रहा है, उसीके फलसे ब्राह्मणका पुत्र मर गया है ।

राम—गुरुदेव ! मुझे उसके लिए क्या करना होगा ?

वशिष्ठ—उसके लिए प्राणदण्डका विधान होना चाहिए ।

लक्ष्मण—शास्त्रकी चर्चा और पूजापाठ आदि पुण्यकर्म शूद्रोंके लिए क्या शास्त्रमें निषिद्ध हैं ?

वशिष्ठ—हाँ, शूद्रके लिए निषिद्ध हैं ।

लक्ष्मण—यज्ञ भी शास्त्र विरुद्ध है ?

वशिष्ठ—हाँ,शूद्रके लिए ।

राम—महाभाग, जो आज्ञा है वही करूँगा । अपनी सेना साथ लेकर दण्डकारण्यको जाऊँगा ।

ऋषिगण—महाराजकी जय हो । सब अकल्याण दूर हों । आपके सारे दुःख और शोक मिटें ।

(ऋषियोंसहित वशिष्ठका प्रस्थान ।)

राम—दक्षिणमें !—वहीं तो पञ्चवटी वन है । वहीं पर मैंने अपने जीवनका प्रातःकाल बिताया है । प्रिय भाई, जीवनके अन्तके समय एकबार उस स्थानको देखनेकी बड़ी इच्छा हो रही थी । वह अब पूरी होजायगी । लक्ष्मण, तुम्हें वह पञ्चवटी कभी याद आती है ?

लक्ष्मण—आर्य, नित्य निरन्तर उस पञ्चवटीकी याद जागती रहती है । जन्मभर उसकी याद बनी रहेगी ।

राम—भैया, वह पञ्चवटी वन पुण्यस्मृतिमय पवित्र स्थान है । मैं उस तीर्थस्थानमें जाऊँगा । तुम भी चलोगे ?

लक्ष्मण—वहाँ एकबार जानेकी अभिलाषा तो मुझे भी बहुत दिनोंसे है ।

राम—(कुछ सोचकर) लक्ष्मण! प्रिय भाई! तुम्हारे ऊपर जो मेरा हार्दिक स्नेह है, जितना मैं तुम्हारा कृतज्ञ हूँ, वह स्नेह और कृतज्ञता दिखाने का मौका कभी मेरे हाथ नहीं आया। भैया, तुम्हारी अमर अक्षय अनन्त कीर्ति जगतमें सदा गाई जायगी। तुम्हारी पवित्र प्रीति, तुम्हारा उदार महत् चरित्र, तुम्हारा अनुपम स्वार्थत्याग ऐसा है कि पृथ्वी भरके लोग तुम्हारी पूजा करेंगे। जिस दिन लङ्काके युद्धमें, तुम्हारी छातीमें, कठिन शक्ति लगी थी; घावसे रुधिरकी धारा बह चली थी; उस दिन उस घड़ी मुझे आँखोंके आगे अन्धकार ही देख पड़ा था। मेरे प्राणोंसे प्यारे भाई, उसी दिन मैंने समझ लिया था कि हम दोनों भाई 'एक प्राण दो देह' हैं। उसी दिन मैंने जान लिया था कि संसार-सागरके बीच एक ही नावपर सवार हम दोनों यात्री ऐसे हैं कि जन्मभर कभी एक दूसरेसे अलग नहीं हो सकते। भैया लक्ष्मण, चलो अब अन्तःपुरको चलें।

(प्रस्थान।)

तीसरा दृश्य।

स्थान—भरतके मामाका घर।

समय—सायंकाल।

[भरत और माण्डवी।]

माण्डवी—पञ्चवटी वनमें ? अब फिर क्यों गये ?

भरत—युद्ध करनेके लिए।—अभी उनका दूत आया है। बहुत कुछ अनुनय-विनयके साथ रघुपतिने एक पत्र लिखा है।

उसमें जल्द ही अयोध्या को लौट आनेके लिए मुझसे अनुरोध किया
—बताओ माण्डवी, क्या करूँ ?

माण्डवी—पत्र देखूँ ।

भरत—यह देखो । केवल कुछ ही शब्द लिखे हैं । परन्तु कुछ ही शब्द होनेपर भी उनमें राघवके चरित्र का महत्त्व, कर्तव्य-निष्ठा, हृदयकी गूढ़ व्यथा कूट-कूटकर भरी है । अहो, इस छोटेसे पत्रमें कैसा संयम, कैसा धैर्य और कैसी उदारता झलक रही है ! इस पत्रमें कहीं पर सीताका नाम नहीं आया है; तो भी देखो, इसकी प्रत्येक पंक्तिमें, प्रत्येक अक्षरमें सीता अंकित हो रही हैं ।

माण्डवी—(पत्र पढ़कर) तो भी उन्हींके निष्ठुर विधानसे आज सीता घर से निकाली जाकर वनवासिनी हुई हैं ।

भरत—हाँ यह तो ठीक है ! वह दिन इस समय भी मेरी आँखोंके आगे नाच रहा है । उस दिन दोपहरके समय सीता बहुत ही साधारण भावसे चुपचाप घरसे निकलकर पुष्पक रथ पर सवार हुई और वनको चलीं । उनके साथ मलिनमुख मौन लक्ष्मण भी चले । सड़कपर लोगोंकी अपार भीड़ थी । महारानी सीताके ऊपर कौतूहलसे परिपूर्ण लाखों दृष्टियाँ पड़ रही थीं । हाय, उस समय यह मलिन आकाश लज्जासे लाल होकर, सौ टुकड़े होकर, उस भीड़के ऊपर—उस पुष्पकरथके ऊपर—क्यों नहीं फट पड़ा ? प्रिये ! तुम्हें वह मेघगर्जनके समान वार वार प्रजाकी भीड़से उठ रहा शोर याद है ?—सब लोग जैसे उपहासके तौर पर 'धन्य हैं, प्रजाका मन और मान रखनेवाले राघव धन्य हैं !' कह रहे थे । उस समय जानकीके मुखमण्डल पर दिव्य प्रकाश झलक रहा था । शान्त सौम्य गर्वसे उनका सिर ऊँचा था और आत्मत्यागके सुखसे उनकी छाती फूल रही थी ।

माण्डवी—हाय,वसा असीम गंभीर प्रेमका सागर—वैसा अनन्त अटल निर्भर——बहुत ही कम देखा जाता है। उस छोटेसे हृदयमें कितने अमूल्य अतुल गुण भरे पड़े हैं, कौन कह सकता है?—हे आर्यपुत्र, मेरी समझमें तो ऐसा अत्याचार, ऐसा अविचार, ऐसी निष्ठुरता कभी किसी स्त्रीके साथ नहीं कीगई होगी।—अभागिनी सती सीता!

भरत—रघुपति किसी महाभ्रममें पड़े हुए हैं। वे वशिष्ठको अभ्रान्त समझ बैठे हैं। यही भ्रम ही इस दारुण अत्याचारकी जड़ है। प्रिये, मैं जानता हूँ कि राघव का हृदय बहुत ही उदार है। इस पत्रमें उनके हृदयके घावकी असीम अव्यक्त तीक्ष्ण पीड़ा और व्यथा साफ झलक रही है! प्रिये, इसमें संदेह नहीं कि यह पत्र हृदयके रक्तसे लिखा हुआ है!

माण्डवी—आर्यपुत्र अयोध्याको जाइएगा?

भरत—उसी बारेमें तो तुमसे पूछने आया हूँ।

माण्डवी—आप जाइए, मैं नहीं जाऊँगी। मैं यह रामका महत्त्व, रामकी करुणा और रामकी यन्त्रणा कुछ नहीं समझती। उन पत्नीघातक राघवसे मैं आखिरी भेंट कर आई हूँ।—हाय अबला नारी जाति!

भरत—तुम अगर न जाओगी तो मैं भी नहीं जाऊँगा। इस सम्बन्धमें मैं तुम्हारा ही अनुगामी हूँ। तो फिर मैं अयोध्यापति को लिखे देता हूँ कि हम लोग अयोध्याको नहीं लौटेंगे। (प्रस्थान।)

———

चौथा दृश्य ।

स्थान—पञ्चवटीका वन ।

समय—तीसरा पहर ।

[राम और लक्ष्मण ।]

राम—यही वह स्थान है । यही वह नित्य अभिराम अक्षय स्मृतिका मठ—वह पुण्यधाम पञ्चवटी है । यह वही सदा मनोहर हास्यमयी गोदावरी नदी है । वह दूरपर धुएँके रंगका, मेघतुल्य, स्थिर नील पर्वत है । पर्वतके नीचे वह देखो, घना श्याम रंगका जंगल है ।

लक्ष्मण--इसी जगह पर वह हमारी कुटी थी ।

राम--सच है । उस नवपल्लवपरिपूर्ण पञ्चवटके तले हमारी कुटी थी । उसे यह वन अपनी स्निग्ध घनी छायासे घेरे रहता था । यह पञ्चवट उस समय नदीके किनारे पर था; किन्तु आज नदी खिसककर उतनी दूर चली गई है । चलो, आगे चलें । (आगे बढ़कर) यह स्थान–हाँ ठीक यही स्थान है–यह देखो, वही बड़े बड़े तालके पेड़ों का कुंज है । भैया ! याद है ? पहले पहल इसी तालकुंजके भीतर सोनेका मृग देख पड़ा था । मृगको मारकर मैं लौटा आ रहा था, तब इन्हीं वृक्षों के पास–ठीक इस जगह–तुम मुझे देख पड़े थे ।

लक्ष्मण—सच है आर्य ! मैं मूढ़ हूँ, इसीसे देवी सीताको असहाय अवस्थामें अकेले छोड़ आया था—

राम—तुम क्या करते ! सब राक्षसकी माया थी । तुम क्यों वृथा खेद करते हो ! विधाताके विधानको कौन अन्यथा कर

सकता है ? चलो आगे चलें।—(आगे बढ़कर) यह वही नदीतट है। यह वही पुण्यमयी नदी गोदावरी है। वैसी ही मनोहर लहरें उठ रही हैं—वैसा ही मनको मोहनेवाला नीले रंगका चमकीला जल है !–हे मुग्धे, हे सुन्दरी नदी, हे चिरहास्यमयी, हे स्निग्ध स्वच्छ मेघकी शोभाको जीतनेवाली, हे उज्ज्वल चंचल नीलनयन-तुल्य मछलियोंसे शोभायमान गोदावरी, इसी तरह हर्षसे नाचती हुई सदा बहती रहो। हे क्रीड़ामयी, ऐसे ही मधुर स्वरसे गाओ–गाओ ! तुम्हारा यह सुखगान कभी बंद न हो।—तुम्हें सुखी देखकर ही मैं सुखी होऊँगा। एक दिन, हे कल्लोलिनी, तुम्हारी कल्लोलमें मेरा सुखगीत लीन होता था। हाय, एक दिन दोनोंका सुखस्वप्न एकमें मिलकर यहीं लीन हुआ था। आज मेरा वह सुख-स्वप्न मिट चुका है; किन्तु, ईश्वर करे, तुम्हारा यह सुखस्वप्न कभी न नष्ट हो।—और तुम नीलगिरि ! मौन, नित्यमनोरम, आकाशसे बातें करनेवाले गिरिवर ! तुम कालकी तरह अटल, निर्मल, दृढ़ भावसे घटनास्रोतके पास सिर ऊँचा किये खड़े हो। इसी तरह दृढ़ स्थिर भावसे खड़े रहो। तुम्हें देखकर मैं हृदयमें सान्त्वना पाता हूँ—देखता हूँ कि चराचर विश्वमें –जीवनके उत्थान और ध्वंसके ऊपर —सत्य, मिथ्या, सुख, दुःख आदि सबको तुच्छ करके कोई एक भाव से खड़ा हुआ तो है।—भाई लक्ष्मण, आओ आगे चलें। (आगे चलकर) देखो, वह वेतसवनसे सटी हुई उज्ज्वल, शीतल रमणीय वही शिला है, जिसके चरणोंको लहरें धो रही हैं। यह वही रम्य स्थान—वही शिला—है, जिस पर मेघहीन उषःकालमें आकाशसे उतरी हुई उषाके समान नित्य आकर सीता बैठती थी। यहीं पर खड़ी होकर सीता धूम्रवर्ण नीलाचलकी सीमामें पड़ी हुई सूर्यके उच्छ्वासकी गरिमाको—सुहावनी सुनहली किरणोंकी क्रीड़ाको—

देखा करती थी । चलो, आगे चलें । (आगे बढ़कर) भैया, दूरपर वनके भीतर जैसे कोई गा रहा है-क्यों न ? क्या, यह तो सुमधुर रमणी का स्वर है ! (नेपथ्यमें गीत सुन पड़ता है) कैसा गंभीर, कैसा विकट और कैसा मर्मस्पर्शी गीत है ! अब दिन बीत गया, डेरेको लौट चलो ।

(प्रस्थान ।)

पाँचवाँ दृश्य ।

स्थान—शंबूकका आश्रम ।

समय—प्रातःकाल ।

[वृक्षके तले शूद्रक और उसकी पत्नी दोनों बैठे हैं । दूरपर राम, लक्ष्मण और तीन सिपाही खड़े हैं ।]

राम—वह बरगदके वृक्षके नीचे सौम्यमूर्ति, गौरवर्ण, दिव्यरूप कौन पुरुष है, जो गंभीरस्वरसे सामगान कर रहा है ? बाल सब पके हुए हैं, मस्तक ऊँचा और चौड़ा है और दाढ़ी लम्बी है । वह मुग्धा श्यामा तरुणी सुन्दरी भी कौन है, जो इस पुरुषके पैरोंके पास बैठी हुई विस्मय और भक्तिके साथ देखती हुई स्वर्गीय गाथा सुन रही है ? चलो भाई, आगे चलें । (आगे बढ़कर) यहीं ठहर जाओ ।—देखूँ । कैसा सुन्दर दृश्य है ! देखो, इस ऋषिकी कैसी पवित्र मूर्ति है ! वह तपस्विनी स्त्री अटल निर्भर और स्थिर गंभीर विश्वासके साथ मुग्ध मग्न दृष्टिसे तपस्वीकी ओर निहार रही है !

शूद्रक—(रामकी ओर देखकर) कौन ? बटोही ?

लक्ष्मण—हाँ हम बटोही ही हैं ।

शूद्रक—थके हुए हो ?

लक्ष्मण—ठीक है ऋषिवर, हम थके हुए हैं ।

शूद्रक—वह नदीके किनारे मेरा आश्रम है।—प्रिये, आश्रमके भीतर इन दोनों अतिथियोंको ले जाओ। मैं भी घड़ी भरमें आता हूँ।

राम—ऋषिवर, हम भाग्यवान् किसके अतिथि हैं?

शूद्रक—मैं ऋषि नहीं, शूद्रक राजा हूँ। और यह रमणी-रत्न मेरी स्त्री है।

राम—तुम शूद्रक हो?

शूद्रक—हाँ।

राम—शूद्रराज, तुम तप कर रहे हो? क्षमा करो। राजन्, इस समय हम तुम्हारा आतिथ्य ग्रहण करनेमें असमर्थ हैं।

शूद्रक—क्यों?

राम—क्या कहूँ शूद्रराज! मैं रामचन्द्र अयोध्याका राजा हूँ। तुमने मेरा नाम सुना है?

शूद्रक—सुना है।

राम—मैं रामचन्द्र हूँ और इस समय तुम्हारी ही खोजमें दण्डकारण्य तक आया हूँ।

शूद्रक—महाराज! मैं अपनेको धन्य समझता हूँ। चलिए, यथाशक्ति विधिपूर्वक मैं आपका सत्कार करूँगा। हे राजा, हे अतिथि, मेरे आश्रममें पधारिए।

राम—शूद्रराज! मैं आज तुम्हारे द्वार पर कोई प्रिय कार्य करने मित्रभावसे नहीं आया हूँ। मैं शत्रुभावसे युद्ध करने आया हूँ।

शूद्रक—क्यों? क्या मैं यह जान सकता हूँ कि मैंने महाराजका क्या अपराध किया है?

राम—तुम्हारा अपराध यही है कि तुमने मोह और मद में मत्त

होकर शास्त्रका अपमान किया है ।

शूद्रक—शास्त्रका अपमान ! महाराज, राज्यभोग छोड़कर इतने दिनोंसे शास्त्रकी चर्चा और अध्ययन मैंने अवश्य किया है; उसका अपमान तो कभी नहीं किया !

राम—यह मैं जानता हूँ । किन्तु तुम क्या यह नहीं जानते कि शास्त्रकी चर्चा और अध्ययनका अधिकार शूद्रको नहीं है ?

शूद्रक—हाँ मैं मानता हूँ कि ब्राह्मणों के विधानसे और ब्राह्मणोंके अधीन राजोंकी आज्ञासे शूद्रको शास्त्र-चर्चाका अधिकार नहीं है । लेकिन रामचन्द्र ! यह क्या उचित है ? मुझसे नबीन विधान क्या आप सुनिएगा ? हे पुरुषश्रेष्ठ, आपही बताइए, यह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रका भेद किसका किया हुआ है ? मनुष्य और पशुका भेद किसकी सृष्टि है ?—कौन भेद पहला है ? कौन सृष्टिकर्ता बड़ा है ?—ब्रह्मा या ब्रह्माके पैदा किये हुए मनुष्य ?—देवताओंके कर्ता ब्राह्मण हैं ? या ब्राह्मणोंका सृष्टिकर्ता वह अनादि ईश्वर है ? अगर आप जातिभेद ही करना चाहते हैं तो वह ईश्वर की नीतिके अनुसार कीजिए । सिंह बैल नहीं हो सकता और बैल भी सिंह नहीं हो सकता । कुत्ता चाहे जितना बुद्धिमान् हो, फिर भी वह घृणित कुत्ता ही बना रहेगा । किन्तु उन्माद मनुष्यसे मनुष्यत्व नहीं दूर होता । शद्रमें भी ब्राह्मणके समान विद्या, बुद्धि, न्यायनिष्ठा और धर्मबुद्धिका होना संभव है; ऐसे ही ब्राह्मण भी शूद्रसे बढ़कर अधम और अत्यन्त हेय हो सकता है । तो भी जन्मभर वह शूद्र शूद्रही रहेगा और वह ब्राह्मण ब्राह्मण ही रहेगा !—जन्मभर क्यों—यह क्रम वंशपरम्परासे चलता रहेगा !—महात्मा रामचन्द्र ! क्या यह नियम स्वाभाविक है ?—महाराज ! सच तो यह है कि इस नियमको आश्रय देना विधाताको लांछित करना है । रघुवर ! प्रकृतिके नियम-

को अग्राह्य करके—तुच्छ समझ कर—ब्राह्मणोंने अपनी क्षमतासे जो रचना की है वह एक दिन, ऊपर जिसकी नींव हो और नीचे जिस की छत हो उस भवनकी तरह, अवश्य गिरकर मिट्टीमें मिल जायगी।

राम—शूद्रराज! सच हो या झूठ हो, अथवा बिल्कुल भ्रम ही हो, तुमने पालनीय राजनियमको तोड़ा है; इसलिए तुम दण्डके योग्य हो।

शूद्रक—महाराज! अगर मैं दण्डके योग्य हूँ, अगर मैंने राजनियमको तोड़ा है, तो आप इस समय मुझे दण्ड दीजिए। आप भारतके सम्राट् हैं; मैं एक छोटा सा राजा हूँ। किन्तु हे अ-योध्यानाथ! आप अपने मन में मेरा अपराध विचार देखिए! मैंने झगड़ा-बखेड़ा या हत्या नहीं की; चोरी नहीं की; व्यभिचार नहीं किया। मेरा अपराध यही है कि मैंने संसारकी कलुषित चिन्ताओं-से जर्जर अपने अन्तःकरणको उन अनन्त परब्रह्मकी ओर लगाया है; अपना चित्त उन अनादि, उन गंभीर, उन असीम नित्य भगवान में लगाया है! वे ही भगवान्, जो तुम्हारे भी हैं, मेरे भी हैं, सारे ब्रह्माण्डके हैं। उनपर क्या सबका समान अधिकार नहीं है? जान पड़ता है, शायद केवल ब्राह्मणोंकी ही बुद्धि जीवनकी असारता समझ सकती है!—शायद केवल ब्राह्मणोंका ही मन सारे विश्वमें सत्यकी खोज करता फिरता है! क्या शूद्रके मस्तिष्क नहीं है? अगर केवल सेवकाई करनेहीके लिए शूद्रका जन्म हुआ है तो फिर ईश्वरने उसे केवल हाथ-पैर ही क्यों नहीं दिए? और अंग और इन्द्रियाँ क्यों दीं?

राम—शूद्रराज! सब युक्तियाँ वृथा हैं। तुमने राजनियमको तोड़ा है; उसका दण्ड ग्रहण करो। उसका विधिविहित दण्ड प्राण-

दण्ड है। बस, आत्मसमर्पण करो, या युद्ध करो। ढाल तरवार या धनुष्य ले आओ। अथवा अगर सेना साथ लेकर लड़ना चाहो तो सन्ध्याको युद्धभूमिमें आना। वह दूर पर, घने वृक्षोंके तले मेरी सेनाका शिविर है।

शूद्रक—युद्ध रामचन्द्र? मैं हत्याका धंधा बहुत दिनोंसे छोड़ चुका हूँ। मैं निहत्था तुम्हारे सामने मौजूद हूँ। दो, प्राणदण्ड दो।

लक्ष्मण—महाराज! छोड़ दीजिए—क्षमा कीजिए। हे नरोत्तम, ये वृद्ध ऋषिवर हैं।

राम—लक्ष्मण! वशिष्ठकी आज्ञा टाली नहीं जा सकती। क्या करूँ।

[म्यानसे तरवार निकालते हैं।]

शूद्रक-पत्नी—निर्मम, निष्ठुर, कठिन, कापुरुष! तुम रावणको जीतने वाले वीर हो? तुम धर्मात्मा हो? राम, तुम्हें धिक्कार है! तुम निहत्थे तपस्वीके शरीर पर अस्त्र चलाने के लिए तैयार हो? तो वीरवर, पहले शूद्रराज की मुझ पत्नी को मार डालो। पत्नीके सामने ही वृद्ध तपस्वीका सिर काटने के लिए तुम्हारा दाहना हाथ कैसे उठता है? यह शान्त सौम्य स्थिर पवित्र मुख देखो! इसके बाद भी अगर तुम इस शरीर पर हाथ चला सको, तो तुम मनुष्य नहीं हो। इस मनुष्य-शरीर में राक्षसका हृदय रखते हो।

राम—सचमुच मैं अत्यन्त निर्मम और कठिन हूँ। मेरे हृदय नहीं है। राजाका न्याय-विचार दयामाया से हीन होता है। राजा को अनुभव करनेका अधिकार नहीं है। उसके लिए नीरस कर्तव्य ही सारांश है। उसके लिए स्नेह मिथ्या सपने के समान है।

शू० पत्नी—महाराज! राजाका विचार दयामाया और क्षमा-से हीन होता है? यह कौन कहता है महाराज! यह सारा विश्व

क्या क्षमाके अधीन नहीं है ? प्रभू, केवल अपने पुण्यके बलसे कौन मुक्ति पा सकता है ? न्याय-विचार कोरा पीड़न ही है, अगर क्षमा कभी उसे नर्म नहीं बना सकती। महाराज ! तुम सम्राट् हो, क्षत्रियकुलश्रेष्ठ हो, वीर हो; मेरे पतिको क्षमा करो। मुझ स्त्रीके इस अनुरोधको रक्खो !

(पैरोंपर गिरती है)

राम—उठो वीरपत्नी ! तुम जो चाहती हो वह देनेमें मैं असमर्थ हूँ।

शू० पत्नी—इतने पर भी वैसे ही कठिन बने हो ! हाय, कितने ही प्राणी हत्या करके भी राजासे क्षमा पाते हैं; किन्तु मेरे पति ऐसे पातकी हैं कि क्षमाके योग्य ही नहीं हैं ? महाराज, इसे मैं क्या समझूँ ?

शूद्रक—रानी, जाओ ! तुम वीर की पत्नी हो; तुम्हें क्या यों कातर होकर ऐसा अनुरोध ऐसी प्रार्थना करना सोहता है ? इस जीवन पर क्या ऐसी ममता और छोह है ? इतने दिनोंतक प्रिय शिष्य की तरह मुझसे उपदेश पाकर तुमने क्या यही सीखा है ? जाओ; यही हमारी आखरी भेंट नहीं है—फिर दूसरे जन्म में भेंट होगी।

शू० पत्नी—नहीं, कभी नहीं। मेरे सामने तुम रामचन्द्र, मेरे पतिको नहीं मार सकोगे। पहले तरवारकी चोट से मेरा हृदय फाड़ डालो। फिर हे निष्ठुर, मेरे प्राणनाथ के प्राण लो, उनकी हत्या करो।

राम—शूद्रक की स्त्रीको कोई दूर हटा ले जाओ।

शू० पत्नी—खबरदार ! मेरे शरीर में कोई हाथ न लगाना ! बही हो—तो फिर प्राणदण्ड दो, मैं अपनी आँखोंसे देखूँगी। तो

फिर मेरे सामने ही निस्तब्ध अन्धकार में संगीत बंद हो; प्रकाश बुझ जाय । वही हो !

राम—शूद्रक, तुम तैयार हो ?

शूद्रक—महाराज, शूद्रक मरनेको तैयार है ।

(राम शूद्रकका सिर काट डालते हैं । कुछ दूरपर खड़ी हुई शूद्रककी पत्नी देखा करती है ।)

शू० पत्नी—यह अच्छा है । यह अच्छा है । जाओ प्रभू जाओ । प्राणेश्वर ! अपने पुण्यों से जीते हुए स्वर्गधामको जाओ और, हे रावण विजयी वीर महाराज, तुम सदा नरककी सी यन्त्रणा भोग करो । तुम कभी उस अपने अनुतप्त मस्तकके ऊपर विधाता की अनुकंपाका एक कण भी न पाओ । अख्याति (बदनामी), अशान्ति और असुखके अनन्त अन्धकार में अयोध्या को लौट जाओ । तुम्हारा महल तुम्हारे लिए सदा साँपके बिलके समान उद्वेगका कारण हो; कोमल पुष्पशय्या शान्ति-सुप्ति-हीन कंटकों की शय्या जान पड़े ! महाराज ! आज तुमने जो आग जलाई है, उसमें तुम सदा जलते रहो ।

(पर्दा गिरता है ।)

चौथा अंक।

पहला दृश्य।

स्थान—अन्तःपुर।

समय—आधी रातके लगभग।

(राम और कौशल्या।)

कौशल्या—बेटा, शान्त हो—शान्त हो ! तुम्हारी ये गर्म लंबी साँसें, ये दीन सूखी आँखें, ये रूखे बिखरे केश, यह ज़र्द चेहरा, यह शीर्ण दुर्बल देह देखकर मेरी छाती फटने लगती है ! प्राणाधिक पुत्र, तुम्हारी यह दशा देखने से जैसे मेरे हृदय पर गाज गिर पड़ती है; बड़ी व्यथा होती है—बड़ी व्यथा होती है। बेटा राम, यों धूलमें पड़े रहना, ऐसा वेष बनाये रखना क्या तुम्हें शोभा देता है ?—तुम महाराज हो।

राम—ठीक है; और क्या, सचमुच मैं महाराज हूँ।

कौशल्या—बताओ तो, लोग तुम्हें क्या कहेंगे ? तुम अगर पत्नी-शोक से इतने अधीर बनोगे तो तुम्हारे भाई क्या करेंगे बेटा ? तुम अगर कुछ भी धैर्य न धरे रहोगे तो क्या होगा ?

राम—क्या करेंगे ?—चाहे जो करें, किन्तु मन-वाणी-कायासे मैं आशीर्वाद देता हूँ कि मेरे भाइयोंको रामके समान ऐसा काम न करना पड़े। लोग क्या कहेंगे —जो जी चाहे कहें। शाम को, भूल कर, दिल्लगी में भी मेरी प्रजा रामका नाम न ले; बस मैं यही ईश्वरसे प्रार्थना करता हूँ।

कौशल्या—राम, तुम क्यों नित्य पछतावे की आगमें जला

करते हो?—बिधाता का विधान ही यह था।

राम—विधाताका विधान !

कौशल्या—हाँ, उठो बेटा, चलकर आराम करो। नित्य रातोंको जगनेसे कितने दिन शरीर रहेगा ?

राम—माता, मैं अब तक जीता हूँ, यही तो आश्चर्य है ! यह देह जिस दिन छूट जायगी उसी दिन मेरी जिंदगी होगी। माता, तुम नहीं जानतीं मेरे हृदयमें कैसी यन्त्रणा—कैसी चिन्ता—उथल-पुथल मचाया करती है ! बस अब सहा नहीं जाता—छाती फटी जाती है। अहो ! उस सतीके हृदयमें मेरे ऊपर अनन्त भरोसा था, अनन्त बिश्वास था, अनन्त प्रेम था। हाय, उसके साथ मैंने कैसा अविचार, कैसा अन्याय, किया है ! माता, निर्वासनके समय मैं नहीं समझा कि उस सतीके साथ वह कैसा नीच नृशंस व्यवहार कर रहा हूँ। मैं नहीं समझा कि मेरे हाथों वह कैसे गहरे प्रेमका अपमान हो रहा है। भाई भरतने, बहन शान्ताने पैरों पर गिर कर समझाया, तब भी मेरी समझमें नहीं आया। तुम माता भी उस समय आईं—तुमने भी घुटने टेककर, रोकर, उस सतीके लिए मुझसे भिक्षा माँगी; उस समय भी मैं मूढ़ कुछ नहीं समझा। प्राणेश्वरी जानकी जब उस द्वन्द्व-दुबिधाके बीचमें हँसती हुई मेरे सामने आई और स्नेहसे मेरे दोनों हाथ पकड़कर कहने लगी कि 'उठो प्राणनाथ—मैं वनको जाती हूँ, तुम सुखसे रहो—दासीके लिए कष्ट न सहो;' तब भी मैं मूढ़ नहीं समझा—मुझे होश नहीं आया। माता, मालूम नहीं, किसके शापसे ऐसी दारुण चिन्ता और तीव्र मनस्ताप होने पर भी मैं जीता हूँ ! प्राण नहीं निकलते !

कौशल्या—बेटा, कोई उपाय नहीं है, तुम क्या करोगे ?

राम—स्नेहमयी जननी ! जाकर सोओ, क्यों हैरान हो रही हो।

मैं अपने पापमें आप जल रहा हूँ। तुम क्या करोगी?

कौशल्या—आओ बेटा राम, सो रहो।

राम—माता, अगर नींद आती तो मैं जागता रहता? सोना चाहता हूँ, चेष्टा भी करता हूँ, पर नींद नहीं आती—तन्द्रा (खुमारी) आती है; और वैसे ही स्थिर सूखी हँसीकी रेखा मुखमें धारण किये, पाषाण-प्रतिमा, नीरव भर्त्सनाके तुल्य, सीताकी मूर्ति आकर पास खड़ी हो जाती है।—विधाताकी ही यह इच्छा और विधान है; मैं क्या कर सकता हूँ माता? तुम जाकर सो रहो।—देह ढीली हो रही है, गिरी पड़ रही है; आँखोंमें खुमारी भरी है, पलकें बंद हुई जा रही हैं। देखूँ, शायद घड़ी भर सो सकूँ।

(लेटकर आँखें बंद कर लेते हैं।)

कौशल्या—बच्चा सो गया; सोने दूँ। नींदकी ठंडकसे उसकी सूखी आँखें शान्ति पावें। मैं जाऊँ; अब रातका पिछला पहर है, जाकर पूजाकी तैयारी करूँ। बेटा राम, मैं अगर तेरा दुःख अपने ऊपर ले सकती!

(प्रस्थान।)

राम—(आँखें खोलकर) नहीं; गर्म आँखोंमें नींद नहीं आई। मरु-भूमिमें कहीं जलकणयुक्त ठंडी हवा चलती है? आलस और नींदके वेगसे पलकें झपकने लगती हैं; शरीर शिथिल हो आता है; सोनेके लिए लेटता हूँ;—लेकिन अकस्मात् हृदयके भीतर धकधक करके आग जल उठती है, मर्मस्थलमें जैसे कोई तीक्ष्ण छुरियाँ भोंकने लगता है, हजारों बिच्छुओंके काटनेकी ऐसी यन्त्रणासे छटपटाने लगता हूँ। सोऊँगा क्या?—हृदयमें सीताकी मूर्ति देख पड़ती है। वह मूर्ति विशुष्क, हिम निष्करुण भर्त्सना करती हुई जान पड़ती है। निराशा और पश्चात्तापके कारण हृदयके भीतर असीम वि-

षादका कुहासा सा छा जाता है। नसें फूल उठती हैं और उनमें गर्म रक्तका स्रोत दौड़ने लगता है।—क्या क्षमासे न्याय अधिक श्रेष्ठ है ? शान्तिसे चिन्ता बड़ी है ? मुक्तिसे युक्ति बड़ी है ? क्या विवेक आप ही मधुर मन्त्रद्वारा उचित अनुचित नहीं बता देता ?—हाय ! तर्कके कुचक्रमें पड़कर मैंने सीताको त्याग दिया ! भ्रम–भ्रम–केवल भ्रम ! जिसके लिए इतना युद्ध, इतनी चिन्ता, इतना परिश्रम किया गया, उसे मैंने इतनी जल्दी अनायास बासी मालाकी तरह अपने हृदयसे हटाकर दूर फेंक दिया !—शायद फिर वह मुझे मिले।—मूढ़ आशा ! जिसे जागते समय दिन दो पहरको गवाँ दिया है,उसे सुषुप्तिके अन्धकारमें खोजकर पाऊँगा ? उस शूद्रराजा-की रानीने जो तिक्तवचन कहे थे कि "तुमको फूलोंकी सेज काँटोंकी शय्या हो जायगी," वे आज मुझे याद आ रहे हैं। हाय ! नहीं जानता किस अपराधसे मैंने उस साधु, शिष्ट, संयमी, निरीह, ऋषि, विरोधशून्य धर्मनिष्ठ शूद्रराजाको ऐसा निष्ठुर दण्ड दिया है ! उसका क्या अपराध था ? धर्मका और पुण्यका पुरस्कार अन्तको प्राणदण्ड मिला ! आज सन्देहकी लातसे कर्तव्य-अकर्तव्य ,न्याय–अन्याय, सत्य-मिथ्या, धर्म-अधर्म सब चूर्ण हुआ जा रहा है।—फिर खुमा-रीके मारे आँखें बंद हुई जाती हैं। देखूँ, शायद कुछ देर सो सकूँ।

(फिर लेट रहते हैं।)

दूसरा दृश्य।

स्थान—राजसभा।

समय—प्रातःकाल।

[राम और वशिष्ठ।]

वशिष्ठ—राक्षस लोग मार भगा दिये गये; राज्य भी चारों ओर फैलकर बढ़ गया; समुद्रसे लेकर हिमालय तक उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिममें सब लोग गंभीर स्वरसे दसोंदिशाओंको कंपायमान करते हुए 'जय राघवकी जय' कहते हैं। तपस्वी लोग निर्विघ्नरूपसे तपस्या करते हैं। ऐसे ही शास्त्र ज्ञानी लोग शास्त्रकी चर्चा करते हैं; क्षत्रिय लोग राजकाज करते हैं; दस्युओंके भयसे रहित वैश्य लोग बेखटके बनिज बेपार और खेती करते हैं। शूद्र लोग ब्राह्मण आदि द्विजोंकी सेवा करते हैं। इस तरह भृत्य, गृहस्थ, योद्धा, ऋषि आदि सब सन्तुष्ट और निरापद हैं। तूफान थम गया है; मत्त उच्छ्वसित आन्दोलित समुद्र स्थिर हो रहा है। यही उपयुक्त समय है; हे रघुवीर, इस समय तुम अश्वमेध यज्ञ करो।

राम—देव वशिष्ठकी आज्ञा शिरोधार्य है।

वशिष्ठ—तो फिर हे पृथ्वीपति! यज्ञके लिए विस्तृत विपुल आयोजन करो—सामग्री एकत्र करो। स्वर्गमें सब देवगण सन्तुष्ट हों। और मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारे राज्यमें यह विशाल पृथ्वी अनन्त धन-धान्य और अन्नसे परिपूर्ण रहे। सब प्रजा प्रसन्न हो। सब अमंगल और रोग-शोक दूर चले जायँ। दुर्भिक्ष और अनावृष्टि देशसे सदाके लिए निकल जाय।

राम—प्रभुकी जो आज्ञा।

वशिष्ठ—तो फिर तिथि-लग्न देखकर मुहूर्त ठीक किया जाय—

किन्तु भैया रामचन्द्र एक बात और है—इस यज्ञमें तुम्हारी सहधर्मिणी कौन होगी ? यह शास्त्रीय प्रथा है कि यह यज्ञ बिना स्त्रीके नहीं किया जा सकता। स्त्री अवश्य चाहिए, नहीं तो यज्ञ निष्फल होगा। इस यज्ञमें तुम्हारी स्त्री कौन होगी ? इस पुण्यमें अंशभागिनी कौन बनेगी ?

राम—महर्षि, मैं तो पत्नीहीन हूँ।

वशिष्ठ—किन्तु तुम्हें सपत्नीक होना चाहिए।

राम—तो फिर मेरे लिए इस यज्ञका अनुष्ठान असंभव है; मेरे तो पत्नी नहीं है।

वशिष्ठ—तो क्या यह यज्ञ रुक जायगा ?

राम—हाँ यज्ञ रुक जायगा। और उपाय ही क्या है ?

वशिष्ठ—मगर रघुवर ! देवगण रुष्ट होंगे।

राम—भगवन्, लाचार हूँ !

वशिष्ठ—राज्यमें अनावृष्टि होगी; दुर्भिक्ष होंगे।

राम—कोई उपाय नहीं !

वशिष्ठ—अकालमें, महामारीमें, प्रजा मरेगी।

राम—देव, मैं क्या करूँ ?—मेरे पत्नी नहीं है।

वशिष्ठ—महाराज ! राजाके लिए दूसरा ब्याह करना शास्त्र-विहित है।

राम—क्या देव ! आज दूसरा ब्याह करना होगा ? महर्षि ! मैं दूसरा ब्याह नहीं करूँगा।

वशिष्ठ—रामचन्द्र ! क्यों ?

राम—क्यों ? उत्तर देना होगा ? महर्षि ! मेरे मुँहसे उत्तर नहीं निकलता। जैसे कोई आकर गला दबा देता है; आँसुओंसे कंठावरोध हो आता है। आँखोंके आगे अन्धकार देख पड़ता है।

भगवन्! इस दाससे 'क्यों' पूछकर; याद मत दिलाइए, रक्षा कीजिए। वह नाम लेते सूखे जले हुए पत्तेकी तरह यह पाप-जिह्वा सिकुड़ जाती है। भगवन्, बस, अब उस पुराने घावको न खोदिए। अब और नहीं सह सकूँगा। रक्षा करो ऋषिवर—नहीं जानता, यों छेड़नेसे मैं अंध उन्मत्त सा होकर क्या कर डालूँ। सहनेकी भी एक हद होती है।

वशिष्ठ—स्थिर होओ वत्स! इतने अधीर न बनो।

राम—अधीर किसे कहते हैं भगवन्? आपको क्या मालूम कि इन दस वर्षोंसे नित्य दिन-रात इस हृदयमें कैसी नरककी आग जला करती है। यह मेरा शीर्ण शरीर देखिए, गुप्त भूसीकी आगके समान उसी अग्निकी ज्वालाने सबेरे-शाम भीतर ही भीतर हरघड़ी जलाकर मेरी यह दशा कर दी है। उस ज्वालाके मारे रातोंको नींद नहीं आई, मैं अकेला उन्मत्तकी तरह महलके भीतर, ऊपर, छतोंपर इधर उधर टहलता रहा हूँ—जबतक दूर पूर्व-आकाशमें रंजित मेघके ऊपर प्रथम अरुणकिरणकी रेखा नहीं फूटी तबतक यों ही तड़पता फिरा हूँ। इन बारह वर्षोंमें मुझे शान्ति नहीं मिली; तीव्र यन्त्रणा के मारे नींद नहीं आई; ऐसे ही असंख्य रातें बीत गई हैं अनेक दिन चले गये हैं। तब भी, हे ऋषिवर, आप मुझसे कहते हैं कि अधीर न बनो! तब भी कहते हैं कि स्थिर होओ! प्रभु, आप मेरी यन्त्रणाको-मेरी दशाको—क्या जान सकेंगे, क्या समझ सकेंगे! आप प्रभुके समान ऊँचे आसन पर बैठे हुए मुझ भृत्यको आज्ञा देते हैं; पर उस आज्ञाका पालन कैसा कठोर होगा, सो न तो आप सोचते हैं और न जानते हो हैं।

वशिष्ठ—तो क्या मैं यह समझूँ कि महाराज यह यज्ञ करनेके लिए राजी नहीं हैं?

राम—हाँ ऋषिवर, अगर दूसरा ब्याह करना जरूरी है तो मैं राजी नहीं हूँ !

वशिष्ठ—तो क्या मैं यह समझूँ कि रामचन्द्र आज वशिष्ठकी आज्ञाकी अवहेलना करते हैं ?

राम—ऐसा ही समझ लीजिए—ऋषि, आप और भी कुछ चाहते हैं ? अभी आपके मनकी कामना पूरी नहीं हुई ? क्या आप यह मेरा हृदयपिण्ड उखाड़कर फेंक देना चाहते हैं ?—तो फिर छुरी लाइए, वही कीजिए । सीताको-निरपराधिनी सीताको-मैंने घरसे निकाल दिया है-और भी कुछ चाहिए ? तो फिर इस देहसे यह हृदय निकाल लीजिए । रामसे अब और सहा नहीं जायगा । भस्म कर डालिए, स्वर्गका द्वार मेरे लिए बंद कर दीजिए । वही अगर मेरे इस कर्मका परिणाम हो, वही अगर दण्ड हो, तो भी ऋषिवर, यह निश्चित समझिए कि मैं दूसरा ब्याह नहीं करूँगा । सैकड़ों ऋषिवाक्योंकी अवहेलना अगर करनी पड़े, तो जानकीकी पुण्य-स्मृतिकी रक्षाके वास्ते उसके लिए भी मैं तैयार हूँ ।

वशिष्ठ—राम ! आज तुम बहुत ही अस्थिर हो रहे हो । तुम्हारा मस्तक बहुत ही गर्म हो रहा है, इसीसे तुम्हारी उत्तप्त जिह्वा ऐसी उष्ण वाणीका उच्चारण कर रही है । रघुवर ! मैं समझता हूँ, सब जानता हूँ । नहीं तो तुमने प्रजाके मनोरंजनका जो काम सीताके निर्वासनसे आरंभ किया था उसे तुम आज अपूर्ण न रखते । महाराज ! प्रजारंजनके लिए तुमने सीताको-जो सीता तुम्हें प्राणोंसे प्यारी थीं उन्हीं सीताको-तुमने त्याग दिया; किन्तु आज प्रजाके मंगलके लिए उन सीताकी स्मृतिको नहीं त्याग सकोगे; यह भी क्या संभव है ? सुनो रघुपति, यह खेद दूर करो । यज्ञ पूर्ण करो । प्रजाके मंगलके लिए यह अश्वमेध यज्ञ करो ।

राम—गुरुदेव ! यज्ञका आरंभ कीजिए; किन्तु मैं सीताकी पवित्र स्मृतिको नहीं भुला सकता। सीताकी स्वर्णमयी मूर्ति बनवाकर उससे मैं सहधर्मिणीका काम निकालूँगा।

(पर्दा गिरता है।)

तीसरा दृश्य।

स्थान—दण्डकारण्य।

समय—सन्ध्याकाल

[सीता, वासन्ती, लव और कुश।]

सीता—कुश ! मैं अपना परिचय दूँगी ! मगर आज नहीं। इस समय तुम दोनों भाई इतना जान रक्खो कि तुम राजाके पुत्र हो। और, मैं अभागिनी पतिकी त्यागी हुई, राजाकी पत्नी और राजाकी बेटी हूँ।

कुश—तुम राजाकी पत्नी हो, हम राजकुमार हैं। फिर हम लोग इस वनमें क्यों पड़े हुए हैं ?

लव—बड़ा ही कौतूहल होता है।

सीता—बेटा, बस इतना ही जान रक्खो कि मैं अभागिनी हूँ।

कुश—तुम रानी होकर भी माता, इस तरह वनवासिनी हो ?

लव—और कुछ नहीं, बड़ा कौतूहल होता है।

वासन्ती—इससे अधिक परिचय देनेका समय अभी नहीं आया। इस समय कुश तुम भी जाओ, और पुत्र लव तुम भी जाओ। थोड़े ही समयमें यह सब हाल तुम जान जाओगे।

(कुश और लवका प्रस्थान।)

सीता—बहन ! अब नहीं सहा जाता । वासन्ती ! बालकोंको अपना परिचय देनेमें सिर नीचा हो जाता है ।

वासन्ती—बहन ! स्थिर होओ—धैर्य धरो । आज भी धर्म है । आज भी पृथ्वी एकदम पापसे परिपूर्ण नहीं हो गई है । तुमने सुना नहीं, आज पन्द्रह वष हो गये, पर रघुवरने दूसरा ब्याह नहीं किया । मैं तो स्त्रीके लिए इससे अधिक सुख नहीं जानती । जो पतिका स्नेह वियोग, निराशा और सैकड़ों दुःखोंको तुच्छ करके—अचल अटल स्थिर पर्वतकी तरह—सदा संकोच-संदेह-रहित होकर बना रहे, वह धन्य है ! बहन, तुम बहुत ही भाग्यशालिनी हो, क्योंकि वैसा ही पतिका स्नेह तुम्हें प्राप्त है ।

सीता—सच कहती हो बहन ! मैं बुद्धिहीन हूँ—इसीसे अपने इस सौभाग्यका मुझे खयाल न था, किन्तु कुश और लवके बारेमें विचार कर देखो बहन वासन्ती ! कहाँ इन्हें अतुल विभव संपत्तिके बीच राजमहलमें रहना था, राजसी पोशाक पहन कर राजकुमार कहलाना था, और कहाँ आज ये दीन बालकोंकी तरह बल्कल पहन-कर यहाँ निर्जन बनके बीच कुटीमें रहते हैं ! इनके भाग्यका खया-ल, इनके ऐसे प्रश्न नित्य मेरे हृदयमें काँटेकी तरह खटकते हैं । बहन वासन्ती ! इन बालकोंकी यह दशा देखकर मुझसे रहा नहीं जाता । आज अगर मैं बालकोंकी माता न होती, मेरे गर्भसे लव कुशका जन्म न होता तो मुझे कुछ दुःख न था । पतिके प्यारके गौरवका गर्व लेकर मैं अपनेको बहुतही भाग्यशालिनी समझती, और आज हँसती हुई बड़े सुखसे मर सकती ।

(वाल्मीकिका प्रवेश ।)

सीता—भगवन्, चरणोंमें प्रणाम करती हूँ ।

वासन्ती—मेरा भी प्रणाम स्वीकृत हो ।

वाल्मीकि—सीता बेटी, और कल्याणी वासन्ती, तुम बहुत दिन तक जियो, तुम्हें सुख प्राप्त हो।

वासन्ती—महामति मुनिवर ! इस वेशसे आज आप कहाँ जा रहे हैं ? मृगछाला पीठ पर डाले, कमंडलु हाथमें लिये, लाठी बगलमें दबाये आप कहाँ जानेको तयार हैं ? आश्रमके भीतर तो मैंने कभी आपका ऐसा वेष नहीं देखा।

वाल्मीकि—आज एक बात कहने आया हूँ।

वासन्ती—ऋषिवर, सुनूँ तो वह कौन बात है।

वाल्मीकि—जानती हो, वह कौन बात है ? कोई बड़ी बात नहीं है—किन्तु जो कहूँगा तो डर लगता है कि तुमको बड़ा आश्चर्य मालूम होगा।

वासन्ती—क्यों ?

वाल्मीकि—सुनो। मैं दो दिनके लिए परदेश जाना चाहता हूँ।

वासन्ती—सो तो मैं पहले ही समझ गई थी।

सीता—ऋषिवर, परदेश ? कहाँ—किस देश ?

वाल्मीकि—कहाँ ?—उत्तर सुनकर अवश्य तुम्हें अचरज होगा। बहुत दूर नहीं—यही अयोध्या तक जाऊँगा।

सीता और वासन्ती—अयोध्या तक ?

वाल्मीकि—मैंने कहा नहीं था कि अचरज होगा ? यह न कहना ही अच्छा था।

सीता—अयोध्यामें क्यों जाइएगा ?

वाल्मीकि—फिर वही 'क्यों' ! आः, याद नहीं आता; बुढ़ापेकी अवस्थामें इसी तरहके बहुतसे दोष पैदा हो जाते हैं। अयोध्यामें—हाँ हाँ—निमन्त्रण है।

सीता—निमन्त्रण काहेका है ?

वाल्मीकि—ब्राह्मण भोजनका निमन्त्रण है। मैं जिनका बड़ा भारी भक्त हूँ, वही रघुपति रामचन्द्र अश्वमेध यज्ञ कर रहे हैं।

वासन्ती—(सोचकर) हाय अभागिनी सीता !

वाल्मीकि—क्यों, सीता क्यों अभागिनी है ?

वासन्ती—महर्षि ! इस यज्ञमें रामकी सहधर्मिणी पत्नी कौन होगी ? मैं आपहीसे कई बार पहले सुन चुकी हूँ कि यज्ञमें पत्नीका होना आवश्यक है; पत्नीके बिना यज्ञका अनुष्ठान नहीं हो सकता।

वाल्मीकि—(स्वगत) मैं बड़ा मूर्ख हूँ। यह बात तो मैंने पहले सोची ही नहीं। मैंने इन दोनोंके आगे यज्ञकी बात ही क्यों छेड़ी ? (प्रकट) बेटी, मुझे खयाल नहीं कि तुम यज्ञकी रीति जानती हो। केवल इतना ही सुना है कि रामचन्द्र अश्वमेध यज्ञ करनेके लिए उद्यत हैं। यह नहीं जानता कि उनकी सहधर्मिणी कौन है। यही जाननेके लिए और रामसे लव-कुशके जन्मका हाल कहने मैं अयोध्या को जाता हूँ। मैं सर्वथा वही करूँगा जो विहित और उचित है। जिसमें लव और कुशको राज्यका अधिकार प्राप्त हो वही चेष्टा करूँगा। रामने दूसरा ब्याह किया है, यह सुनकर मैं कैसे चुपचाप यहाँ बैठा रह सकता हूँ ? बेटी, धैर्य धरो। अभी यज्ञका आरंभ नहीं हुआ।

सीता—जाइए महाभाग, मेरे पुत्रोंकी भलाईके लिए जो उचित समझ पड़े सो कीजिये। किन्तु रघुवरसे मेरा कुछ हाल न कहना। महर्षि, मैं आपसे यही भिक्षा माँगती हूँ कि उनके आगे मेरी कुछ चर्चा न करना। आपको यह प्रतिज्ञा करनी होगी।

वाल्मीकि—मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ। किन्तु यह सर्वथा असंभव है कि राम सीताको भूल गये हों। मैं रामको अच्छी तरह जानता हूँ। मैंने रामायण वृथा नहीं लिखी। अगर मैं वहाँ जाकर

दूसरा ढंग देखूँगा, अगर देखूँगा कि राम सीताको भूल गये हैं, तो मैं अपने बनाये ग्रन्थ (रामायण) के टुकड़े टुकड़े करके उसे जलमें बहा दूँगा। यह मैं सच कहता हूँ। सीता और वासन्ती, तुम यहाँ कुशलपूर्वक रहो; मैं शीघ्र लौट आऊँगा।

वासन्ती—ऋषिवर, तो लव-कुशको ले जाइएगा ?

सीता—मेरे जीवन के अन्तिम अवलंबन, आँखों के प्रकाश वे बालक भी जायँगे ? अच्छा, जाइए, लेजाइए—यह हृदय बहुत कुछ सह चुका है, यह भी सह लेगा ! मेरा हृदय भले ही चूर चूर हो जाय, उन बालकों को तो सुख प्राप्त होगा।

वाल्मीकि—नहीं, अभी वे यहीं रहें। मुझे आशा है, लौटकर मैं पुत्रों को और माताको भी लेकर वहाँ जाऊँगा।—अच्छा तो जाता हूँ।

सीता और वासन्ती—पिताजी, हम प्रणाम करती हैं।

(वाल्मीकि दोनों को आशीर्वाद देकर जाते हैं।)

सीता—(आँसुओंसे गद्गद स्वरमें) वासन्ती ! वासन्ती !

वासन्ती—बहन—अभागिनी ! सीता !—

(सीताको छातीसे लगा लेती है।)

चौथा दृश्य

स्थान—वनका भीतरी भाग।

समय—प्रातःकाल।

[लव और कुश।]

लव—दादा, मैंने एक सफेद रंग का बढ़िया घोड़ा पकड़ा है।

कुश—कहाँ है ?

लव—वह ताड़के पेड़के तले देखते नहीं हो ? वह वेतकी

लतामें बाँध रक्खा है ।

कुश—यह घोड़ा किसका है ?

लव—मैं क्या जानूँ, किसका घोड़ा है !

कुश—आओ, उसके पास चलकर देखें। (पास जाकर) यह तो जंगली घोड़ा नहीं है । किसी सिपाहीका होगा ।

लव—संभव है ।

कुश—निश्चय यहीं बात है । मुझे सेनाका कोलाहल सा जैसे अभी सुन पड़ा था । सागर की लहरोंका ऐसा विशाल गंभीर शब्द अभी सुन चुका हूँ । दोपहर को आकाश में छाई हुई बहुतसी धूल भी देख चुका हूँ । इस राह से कभी कोई सेना नहीं आई । आज क्यों आरही है ?

लव—सो मैं क्या जानूँ ?

कुश—झगड़ा खड़ा करने से कोई मतलब नहीं । निरापद रहना अच्छा है । बहुत संभव है, किसी राजा की सेना दिग्विजय-के लिए इस राहसे जा रही हो । लव, घोड़ा छोड़ दो ।

लव—कुश, क्यों छोड़ दूँ ?

कुश—अरे भाई, यह घोड़ा दूसरेका है । हमारा उस पर क्या हक है ?

लव—हो दूसरे का । वे लोग क्यों इस तरह आश्रम के भीतर घोड़ा छोड़ देते हैं ?

कुश—मेरी बात नहीं सुनोगे ?—पीछे इस घोड़ेके कारण कोई बखेड़ा उठ खड़ा होगा । मैं बहुत दिनों से जानता हूँ, तुम मेरी बात नहीं सुनोगे । जाऊँ, माताको बुला लाऊँ । (प्रस्थान ।)

लव—(घोड़े के पास जाकर) यह घोड़ा बहुत ही सुन्दर है । इसकी आँख उज्ज्वल चमकीली और बड़ी बड़ी हैं । मुख छोटा है ।

कान ऊँचे हैं। रोएँ कोमल और खूब चिकने हैं। मत्था ऊँचा है। गर्दन ऊपर उठी हुई है। कंधे मांससे भरे हुए हैं। छाती चौड़ी है। पैर लंबे और मजबूत हैं। सुम खड़े और चौड़े हैं, पूँछ ऊपर उठी हुई है। पीछेका हिस्सा चौड़ा और भारी है। कंधे पर बहुत से घने केश हैं। यह पशु सौम्य, शान्त शिक्षित होने पर भी तेजीके मारे अस्थिर और व्यग्र हो रहा है। यह घोड़ा तेजस्वी (कड़वा), ताकतवर और सुंदर है।–जान पड़ता है, वह इसका स्वामी आ रहा है।

[एक सैनिकका प्रवेश।]

सैनिक––तुमने घोड़ा पकड़ा है ?

लव—हाँ मैंने पकड़ा है।

सैनिक––यह राजाका घोड़ा है; इसे छोड़ दो।

लव—यह किसका घोड़ा है ?

सैनिक—अयोध्यापतिका।

लव—(आश्चर्यके साथ) रामचन्द्रका ?

सैनिक—हाँ।

लव—अच्छी बात है !

सैनिक––अच्छी बात है ?–तो फिर इसे छोड़ दो।

लव—क्यों छोड़ दूँ ? रामका घोड़ा क्यों इस आश्रम-वनके भीतर आया ?

सैनिक—क्यों आया ? तुमने सुना नहीं कि रामचन्द्रने अयोध्यामें अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान आरंभ किया है ?

लव—ना, उस अश्वमेध की बात मैंने नहीं सुनी। सो वह ऐसी कौन बड़ी बात है ? उसके सुननेसे हमारा क्या बनता-बिगड़ता ?

सैनिक––जो घोड़ा पकड़ेगा वह विद्रोही समझा जायगा।

लव—सच ? तो मुझे बड़ा विद्रोही समझो।

सैनिक—तुम कौन हो ?—पागल ! तुम विद्रोही हो ?

लव—हाँ !

सैनिक—(हँसकर) तुम महाराज रामचन्द्रसे युद्ध करोगे—क्यों ?

लव—हाँ युद्ध करूँगा ।

सैनिक—तुम्हारी सेना कहाँ है ?

लव—सेनाकी क्या जरूरत है ?

सैनिक—अकेले तुम महाराज रामचन्द्रकी असंख्य सेनासे युद्ध करोगे ?

लव—हाँ अकेले युद्ध करूँगा । इसमें तुम्हें आश्चर्यकी बात कौनसी देख पड़ी ?

सैनिक—हे बालक, भला यह भी तुम जानते हो कि युद्ध किसे कहते हैं ?

लव—देखो जानता हूँ कि नहीं ।

सैनिक—(विस्मयके साथ) तुम तपस्वीके बालक हो ?

लव—नहीं, मैं क्षत्रिय राजकुमार हूँ ।

सैनिक—क्षत्रिय हो ? तो भी अभी बच्चे हो ।

लव—नहीं, मैं बच्चा नहीं हूँ !

सैनिक—(हँसकर) बच्चे नहीं हो ? तो क्या जवान हो !—क्यों, सच कहते हो, युद्धके विना राजाका घोड़ा नहीं दोगे ?

लव—कभी नहीं ।

सैनिक—अच्छा तो युद्ध करो ।

लव—किसके साथ ?

सैनिक—अभी मैं ही तुम्हारे सामने खड़ा हूँ—मुझसे ही युद्ध करो ।

लव—तुम्हारे साथ ? तुम रामचन्द्र हो ?

सैनिक—नहीं। वे मेरे स्वामी हैं।

लव—राजपुत्र भी नहीं हो?

सैनिक—नहीं, राजपुत्र भी नहीं हूँ।

लव—मैं राजपुत्र हूँ। मैं राजा या राजपुत्रके सिवा और किसी से युद्ध नहीं करूँगा। अपने प्रभु राजा रामचन्द्रको बुला लाओ।

सैनिक—उद्धत बालक ! रामचन्द्रसे युद्ध करोगे ? मूढ़ ! तुम दुधमुँहे बच्चे उन रावणविजयी महाराज रामचन्द्रसे रण करोगे ?—तुम्हारा साहस तो कम नहीं देख पड़ता !

लव—रामचन्द्रने सचमुच रावणको जीता है ? स्त्रीकी हत्यामें तो बेशक उनकी अद्भुत वीरताकी बात सुनी है ! आड़में खड़े होकर किष्किन्धामें बाली वानरको मारा है—यह भी बेशक उनकी अद्भुत वीरता है ! राम बेशक वीर हैं—हीन हेय वानरों और रीछोंको बटोरकर उनकी सहायतासे रावणको मारनेवाले राम सचमुच बड़े वीर हैं ! खैर चाहे जो हो, रामचन्द्र राजपुत्र हैं—और, युद्धके कुछ जाननेका उन्हें अहंकार भी है। सो तुम जाओ, रामचन्द्रको युद्धके लिए बुला लाओ। देखूँ, वह कैसे बड़े वीर हैं।

सैनिक—रामचन्द्र तो यज्ञकी दीक्षा लिये हुए अयोध्यामें हैं। यहाँ उनके सेनापति मौजूद हैं।

लव—उनके सेनापतिका क्या नाम है ?

सैनिक—उनका नाम शत्रुघ्न है।

लव—(हर्षके साथ) शत्रुघ्न नाम है ? यह तो अच्छी दिल्लगी है।

सैनिक—दिल्लगी ?

लव—आश्चर्य है ! उन सेनापतिने कभी युद्ध किया है ? मैंने

तो नहीं सुना । अच्छा उन्हें बुला लाओ । तो भी वे राजपुत्र तो हैं । राम नहीं आवेंगे ?

सैनिक—रामचन्द्रके आनेका क्या प्रयोजन है ?

लव—उनका नाम सुना है । एक बार उन्हें देखनेको जी चाहता है ।

सैनिक—यह घोड़ा नहीं दोगे ? तो फिर मैं सेनापतिको बुलाऊँ ?

लव—नहीं तो क्या हवाके साथ कहीं युद्धका किया जाना संभव है ? राजपुत्र लव साधारण सिपाहीके साथ युद्ध नहीं करता ।

सैनिक—यह तो अच्छी दिल्लगीकी बात आज हुई ।

लव—कुछ चिन्ता नहीं है । धीरे धीरे मामला बेढब भारी हो जायगा ।

सैनिक—अच्छा तो फिर वही हो । (प्रस्थान ।)

लव—देखूँ, अयोध्याके वीर किस तरह युद्ध करते हैं । युद्धका नाम सुनते ही मेरे हरएक अंग-प्रत्यंगमें गर्म खून लहरें मार रहा है । आज मैं रणरंगमें मस्त होकर क्रीड़ा करूँगा । मेरी दोनों भुजायें फड़क रही हैं । आज पहला दिन है कि मैं समर-सागरकी लहरोंमें तैरूँगा । देखूँ, मैंने अस्त्रविद्या किस तरह कैसी सीखी है !

[सीताका प्रवेश ।]

सीता—लव !

लव—क्या है माता !

सीता—तूने घोड़ा क्यों पकड़ रक्खा है ?

लव—माता, वह घोड़ा आश्रम-वनके भीतर घुस आया था, इसीसे मैंने उसे पकड़ लिया ।

सीता—घोड़ेको लेकर तू क्या करेगा ?

लव—उस पर चढ़ूँगा।

सीता—अभी जब कोई घोड़ेको खोजता हुआ आवेगा तब ?

लव—अभी एक सिपाही आया था। मैंने उससे कह दिया है कि मैं बिना युद्धके घोड़ा नहीं दूँगा।

[घबराये हुए कुश और अन्य मुनि-बालकोंका प्रवेश।]

कुश—मा ! मा ! एक बड़ी भारी सेनाने आकर चारों ओरसे हमारे इस आश्रमको घेर लिया है। मैंसमझता हूँ, लव इस घोड़ेको पकड़ कर भारी अनर्थ खड़ा कर लेगा।

लव—तुम कुश, निश्चिन्त होकर बैठे रहो; लड़नेके लिए मैं हूँ। कुछ भय नहीं है।

कुश—असंख्य सेना आरही है। तुम अकेले क्या कर लोगे ? सुनो, वह गुल-गपाड़ा सुनाई पड़ रहा है। अब भी कहता हूँ लव घोड़ेको छोड़ दो।

सीता—हाँ बेटा; छोड़ दे।

लव—नहीं माता ! मैं कह चुका हूँ कि युद्ध के बिना यह घोड़ा नहीं दूँगा। चाहे मरूँ, चाहे जियूँ, पर घोड़े को नहीं छोड़ सकता। क्षत्रिय के बालक की प्रतिज्ञा झूठी होगी ? तुम माता, क्या यही चाहती हो ? (कुशसे) जाओ युद्ध होने दो। (सीतासे) जाओ माता, जाओ। होने दो असंख्य सेना। मैं क्षत्रिय वीर हूँ। अकेला लव सौ सेनापतियोंके बराबर है।

सीता—लव, तू क्या एक घोड़ेके लिए युद्ध करेगा ?

लव—हाँ युद्ध करूँगा।

सीता—इस अक्षौहिणीके साथ।

लव—हाँ अक्षौहिणीके साथ।

सीता—अकेले ?

लव—हाँ अकेले ।

कुश—यह तुम्हारी मूढता है !

सीता—(स्वगत) वही रघुवरका ऐसा तेज है । वैसी ही दृढ़ प्रतिज्ञा है ! वैसा ही दर्प है ! वैसा ही ढङ्ग है ! गर्वसे वैसे ही नथने फूल रहे हैं ! वैसा ही रामचन्द्रके समान दृढ़ शूरता प्रकट करने-वाला भाव है—चौड़ी छाती फूली हुई है ! आँखोंमें वैसा ही तेज है ! वैसे ही स्वावलम्बन पर अटल और दृढ़ है ! ठीक राघवका ही प्रतिबिम्ब यह बालक है ! (प्रकट) बेटा, तुम क्षत्रिय वीर हो; तुम राजपुत्र हो ।—जाओ बेटा, युद्ध करो । मैं क्षत्रिय-रमणी हूँ । तुम्हारे युद्धके उत्साहमें बाधा नहीं डालूँगी ।—मैं अपने चरणोंकी रज तुम्हारे मस्तकमें लगाकर आशीर्वाद देती हूँ । अगर मैं साध्वी सती हूँ—अगर मैं पतिव्रता हूँ, तो तुम मेरे आशीर्वादसे त्रिभुवनके वीरोंको जीत लोगे । (प्रस्थान ।)

पाँचवाँ दृश्य ।

स्थान—बनका दूसरा हिस्सा ।

समय—दो पहर ।

[समरवेषमें लव और शत्रुघ्न खड़े हैं । शत्रुघ्नके पास बहुत से सिपाही हैं ।]

शत्रुघ्न—बालक—उद्धत शिशु—शस्त्र रख दो । बच्चे ! तुमको शायद अभी तक यह बोध नहीं हुआ कि युद्ध खेल नहीं है !

लव—युद्ध खेल नहीं है ? सेनापतिजी, मैं तो युद्धको—कमसे कम अपने लिए—खेल ही समझता हूँ ।

शत्रुघ्न—तुम जानते हो—शस्त्रके लगनेसे देहमें घाव होता है

और घाव होने पर उससे रुधिर बहता है ? तुमने कभी खून देखा है ? कभी तरवारकी चोटसे धड़से सिर अलग होते देखा है ?

लव—हे वीर, अगर सच पूछो तो मैंने अपना सिर कभी धड़ से अलग होते नहीं देखा ! और, कभी अपने शरीरमें घावकी व्यथाका भी अनुभव नहीं किया !

शत्रुघ्न—तो फिर युद्धसे निवृत्त होओ। तुम अभी निरे बच्चे हो। तुम्हारा यह कोमल शरीर शस्त्रकी चोटके योग्य नहीं है—गोदमें लेकर दुलरानेके योग्य है—स्नेहपूर्वक हृदयसे लगानेके योग्य है !—इस किशोर कोमल शरीर पर शस्त्रपात !—शिव शिव !-यह तुम्हारा मुख चूमनेके योग्य है भैया !—महाराजका घोड़ा फेर दो और बेखटके अपनी माताकी गोदमें जाकर क्रीड़ा करो ! तुम अभी सुकुमार हो !

लव—युद्धके बिना मैं घोड़ा नहीं दूँगा।—समझे ? शत्रुघ्न, तुम क्या जाग नहीं रहे हो ? या बहरे हो ? तो सुनो—(ऊँचे स्वरसे) यह निश्चय समझो कि मैं बिना युद्धके घोड़ा नहीं दूँगा—नहीं दूँगा !—अब सुन लिया ?

शत्रुघ्न—(हँसकर) अगर तुम बिल्कुल इसी पर उतारू हो, तो फिर मैं लाचार हूँ। अच्छा, तरवार खींचो।

(दोनों तरवार लेकर युद्ध करते हैं। शत्रुघ्न केवल अपनेको बचाते हैं।)

शत्रुघ्न—धन्य हो बालक ! तुम्हारी अस्त्र-शिक्षा, कौशल और फुर्ती सराहने योग्य है। लव, ठहरो।

लव—(ठहरकर) तो तुम हारना स्वीकार करते हो—क्यों ?

शत्रुघ्न—अच्छी बात है। मैं अपनी हार मंजूर करता हूँ। युद्ध छोड़ दो वीर, और घोड़ा फेर दो।

लव—ना, तुम हँस रहे हो। अगर शक्ति हो तो घोड़ेको ले

जाओ। युद्धमें मुझे हराये बिना तुम उस घोड़ेको नहीं पा सकते।—आओ, युद्ध करो।

शत्रुघ्न—अच्छा तो वही हो। अच्छी बात है। तुम बालक अवश्य हो, मगर अपने शरीरमें सिंहका ऐसा पराक्रम रखते हो; तुमने विधि-पूर्वक अस्त्रशिक्षा भी प्राप्त की है। लव, तुम्हारे साथ कौशलकी परीक्षामें कोई लज्जाकी बात नहीं है।—लो हथियार हाथमें लो।

लव—तुम वीर हो। तुम्हीं आगे बढ़कर वार करो।

(फिर युद्ध होता हैं। शत्रुघ्न मूर्च्छित और घायल होकर पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं। तब सब सैनिक लव पर आक्रमण करते हैं लव उनके साथ युद्ध करते करते बाहर निकल जाते हैं।)

[कुछ सैनिकोंका फिर प्रवेश।]

१ सैनिक—यह क्या!-क्या सेनापतिके सिरमें चोट आई है?

शत्रुघ्न—चोट?-साधारण नहीं, गहरी चोट है!

२ सैनिक—तो फिर शिबिरमें ले चलो।—यह क्या, यह कैसा शोर गुल सुन पड़ता है?

[बहुतसे सैनिकोंका प्रवेश।]

३ सैनिक—सर्वनाश हो गया स्वामी! भयसे विह्वल सारी सेना 'शत्रुघ्न मारे गये' सुनकर अयोध्याकी ओर भागी जा रही है। वीरकुलश्रेष्ठ निर्भय लव अकेले कार्तिकेयकी तरह उस सेनाका पीछा कर रहे हैं!

और सैनिक—धन्य है लव, धन्य है!

शत्रुघ्न—तो यह भयसे विह्वल होकर अयोध्याकी ओर भाग रही हमारी सेनाका कोलाहल है? धिक्कार है! धिक्कार है! अयोध्याके सब क्षत्रिय वीर कायर हैं! शेरकी तरह अकेले

बालक लवने आज भेड़ोंकी तरह रामकी सारी क्षत्रिय सेनाको भगा दिया! हा धिक्कार है!

१—सैनिक डेरेमें ले चलो! सेनापतिके बहुत गहरी चोट लगी है!

(शत्रुघ्नको लेकर सब सैनिकोंका प्रस्थान।)

२ सैनिक—(जाते जाते) इस बालककी शस्त्रशिक्षा धन्य है! बाहुबल धन्य है! यह क्षत्रिय-तापस बहुत ही श्रेष्ठ वीर है!

(लवका प्रवेश।)

लव—सब भाग गये! राजाकी सेनाका पता नहीं है! असंभव संभव हो गया! इसीको युद्ध कहते हैं?—यह तो लड़कोंका खेल ही है। आश्रमको चलूँ। दिन समाप्त हो आया है। (प्रस्थान।)

छठा दृश्य।

स्थान—महलकी छत।

समय—आधीरात।

[राम अकेले।]

राम—चन्द्रमा अस्त होगया! आकाशमें दूर पर सप्तर्षिमण्डल नीचे उतरता जा रहा है। नीले रंगका आकाश स्थिर, निस्तब्ध और निर्मल है। आकाशके नीले हृदयमें लाखों निश्चल नक्षत्र चमक रहे हैं! गहरे आकाशके अन्धकारमें अनन्त प्रकाश-राज्य देख पड़ता है, और वह मृत्युके ऊपर विजय प्राप्त करनेवाले प्रेमकी तरह जान पड़ता है।—इस संसारमें सन्नाटा छाया हुआ है। केवल दूर पर सरयूके प्रवाहका निरन्तर कलरव अनन्त विलापके समान सुनाई पड़ रहा है। दूरके सूनसान सन्नाटेमें, अस्फुट कारुण्यके समान,

उसकी प्रतिध्वनि सुन पड़ती है। सड़कों पर कोई मनुष्य नहीं है। जिनके दरवाजे बंद हैं, वे भवन चित्रलिखितसे जान पड़ते हैं। पुरवासी लोग सुखसे सो रहे हैं। केवल उनके राजाकी आँखोंमें नींद नहीं है।-इस समय आलस्यकी गहरी खुमारीमें आँखें बंद हुई आती हैं।—सीता! सीता! आओ, इस जागते-सोतेकी मध्य दशामें उतर आओ!-प्रेमसे नहीं, करुणासे आओ। आज तुम जीती हो और चाहे मर गई हो, आओ-आजाओ। (ऊँचे स्वरसे) सीता! सीता! सीता!

[स्वप्नावस्थामें छायारूपिणी सीता का प्रवेश।]

राम—वही मूर्ति है! वही करुणाहीन, वही स्थिर पाषाण-प्रतिमा है! जैसे यह पृथ्वी की चीज नहीं है-जैसे जीती और जागती नहीं है! असीम उदास भाव के साथ वही बर्फ के समान अधरों में सूखी हँसीकी रेखा है। आँखों में वही निष्प्रभ, निष्पन्द, सुदूर शून्य में स्थापित, आसक्ति-विराग-आनन्द आदि भावों से रहित दृष्टि है। (घुटने टेककर) सीता! प्राणेश्वरी! प्रिये! अगर आज कृपा करके आई हो तो मुँह से कुछ बोलो!-मैं नित्य अवधिहीन तीव्र पश्चात्तापकी आगमें जला करता हूँ। मेरा अपराध क्षमा करो। मुँहसे बोलो। अट्ठारह वर्ष हो गये—इस घोर हृदयकी आगमें बराबर मैं जलता रहा हूँ!-देवी! प्रिये! प्राणेश्वरी! उधर कहाँ दूर दिगन्तकी सीमाको एकटक निहार रही हो?-पाषाणप्रतिमा!-इधर देखो। इस दुर्बल, कंकालसार, शीर्ण शरीरको देखो!-कुछ मुँहसे बोलो! सिर्फ एक बार कहदो कि "क्षमा करदिया"—सिर्फ एक बार—

(सीता की छाया मूर्ति हट जाती है।)

—कहाँ जाती हो—जाओ नहीं—इतने दिनों से इस हृदयमें

धकधक करके रावण की चिता जल रही है !--बोलो--बोलो---सीता, जाओ नहीं---

(सीता अन्तर्द्धान हो जाती है।)

--स्वप्न उचट गया ! ओः कैसी जलन है ! सिर में कैसी वेदना है ! रुधिर में आग सी बह रही है।---यह क्या ? अकस्मात् आँधी की तरह ठंडी हवा चलने लगी। सहसा आकाश में दूर तक घने मेघ घिर आये। बिजली चमक रही है। बारबार बिजली की कड़कड़ाहट सुन पड़ती है। गहरा--बहुत ही गहरा अन्धकारका पर्दा सृष्टि के ऊपर पड़ गया। विश्वभर में चारों ओर मरण-कल्लोल उठ रहा है।--

--भयंकर आधीरात ! यही ठीक है। हे मेरी सहचरी ! भयानक प्रलय करने वाली रात। हे भीमरूपिणी मेरी साथिन ! मेरा हृदय जैसे असीम अनिद्रा, अशान्ति, चिन्ता, अनन्त अन्धकार और भयानक हाहाकारसे परिपूर्ण है, वैसे ही वही दशा तेरी भी है। दोनों जनें अच्छे मिले हैं। आज मैं भी तेरे साथ इस तूफानकी भयानक तरंगोंमें निराशाके अन्धकारमें फांदूँगा।--

--कैसी गहरी रात है ! दसों दिशाओंको व्याप्त करती हुई वर्षा पृथ्वी पर गिर रही है ! बारंबार मेघके बीच बिजली चमक जाती है। पानी बरसनेके बीच, पिंगलवर्ण आधीरातके समयमें, पृथ्वी पर वह बिजलीकी चमक प्रलय कालके प्रकाशकी तरह जान पड़ती है। बिजलीकी कड़क मृत्युके बिकट आर्तनादकी तरह हुंकारके साथ एक मैदानसे दूसरे मदानमें दौड़ जाती है।--बलिहारी !--हे भीमा भैरवी रात्रि ! तू भैरव हुङ्कारसे नग्न आनन्दके साथ, प्रलयके भयानक तालसे थिरककर, नाच--खूब नाच।

पाँचवाँ अंक ।

पहला दृश्य ।

स्थान—दण्डकवन, वाल्मीकिका आश्रम ।

समय—तीसरा पहर ।

[सीता, वासन्ती, लव और कुश ।]

सीता—बेटा, लव, आज तुमने गजब कर डाला ! तुमने मुझसे यह क्यों नहीं कहा कि यह सब सेना राघवकी है ? तुमने क्यों नहीं बाताया कि रामचन्द्रके भाई शत्रुघ्न उसके सेनापति हैं ?

वासन्ती—रामचन्द्र तुम्हारे पिता हैं, शत्रुघ्न तुम्हारे चाचा हैं।

लव—रामचन्द्र हमारे पिता हैं । माता, आज तक तुमने यह बात तो मुझसे कही नहीं !

सीता—मैं सर्वनाशी राक्षसी सदासे अपने घरमें सब अमंगल, सब अकल्याण, ले आती रही हूँ ! हाय, मेरे बराबर अभागिनी कौन स्त्री होगी !

कुश—रामचन्द्र, अयोध्याके राजा रामचन्द्र—हमारे पिता हैं। और तुम उनकी घरसे निकाली हुई पत्नी अभागिनी सीता हो ?

सीता—हाँ बेटा कुश ! मैं अभागिनी, सर्वनाशकी जड़, पापिन, उनकी घरसे निकाली हुई पत्नी हूँ। राघव ही इस अभागिनीके स्वामी हैं । हाय विधाता !—यह बात कहते समय मेरे सिर पर गाज क्यों नहीं गिर पड़ी !—बेटा कुश, यह हाल सुनकर क्या तुम्हें अपनी माता पर घृणा हो आई है ? मैं बराबर रघुकुलमें अकल्याण, कलंक-कालिमा, विग्रह-विच्छेद और अशान्ति लाई हूँ। मेरे कारण बालीके

बधका पाप हुआ; मेरे कारण लंकाका युद्ध हुआ; मेरे कारण आज शत्रुघ्न घोर रूपसे घायल हुए हैं। मैंने ही इक्ष्वाकुवंशका घर इस तरह बिगाड़ा है। दुर्भिक्ष, मरी, हाहाकार, सर्वनाश आदि सब अनर्थोंकी जड़ मैं हूँ। मैं पाप और अभिशाप हूँ। मैं अयोध्याके लिए धूमकेतु हूँ।-बोलो बेटा, क्या तुम मुझसे घृणा करते हो? मैं घरसे दुतकारी गई और निकाली हुई हूँ; देवतुल्य मेरे स्वामीने उतारकर फेंके गये अनादृत पुराने फटे कपड़ेकी तरह मुझे त्याग दिया है। आज मैं सिर झुकाकर यह सब स्वीकार करती हूँ। बेटा, तुम क्या अपनी मातासे घृणा करते हो? बोलो बेटा कुश—बोलो बेटा लव।—फिर भी तुम चुप हो। ना ना, मेरे बच्चो, तुम मुझसे घृणा न करना। तुम्हीं मेरे हृदयके धन, जीवनके सर्वस्व और नेत्रोंकी ज्योति हो। मैं पापिन हूँ, अभागिन हूँ, फिर भी तुम्हारी माता हूँ। मैं लाख दीन हीन हूँ, फिर भी अपने हृदयका रक्त—दूध—इतने दिन पिलाकर मैंने तुम्हें इतना बड़ा किया है। तुम मुझसे घृणा करते हो, यह न कहना; नहीं तो अभी मेरी छाती फट जायगी।-तब भी कुछ नहीं बोलते?-कुश!-लव!—

कुश—अभागिनी दुखिया माता।

(प्रस्थान।)

सीता—वासन्ती! वासन्ती! बस यही अन्त है-यही मेरे दुःख की हद है। इसके बाद और अधिक दुःख क्या हो सकता है? पुत्र अगर दारुण घृणा करके करुणा दिखाता हुआ पास से चला गया तो फिर इससे बढ़कर कठिन प्राणान्तक दुःख और क्या हो सकता है? वासन्ती! इस छाती पर जैसे किसीने बड़ी भारी शिला रख दी है; आँखों के आगे अन्धकार छागया है। मुझे साँभलो बहन-(मूर्च्छा।)

वासन्ती—लव !

लव—माता ! माता !

वासन्ती—लव ! शीघ्र पानी ले आओ। तुम्हारी माता मूर्च्छित हो गई हैं !

(लवका प्रस्थान और जल लेकर फिर प्रवेश।
सीताके मुख पर पानी छिडकना।)

वासन्ती—बहन सीता ! मैं और क्या सान्त्वना दे सकती हूँ ! क्या कहकर सान्त्वना दूँ !

लव—माता, उठो-उठो; मैं तुम्हारा पुत्र लव तुम्हें पुकार रहा हूँ। मैंने तो तुमसे घृणा नहीं की; फिर क्यों मुझसे नहीं बोलती हो ? माता, पहले मैं तुमको अपने हृदयके भीतर रखता था; आज से तुम्हारा स्थान मेरे सिर पर होगा ! जननी, तुम मेरे लिए सदा आराधनीया देवी हो-अपने चरणोंकी रज मुझे दो।

(पर्दा गिरता है।)

दूसरा दृश्य।

स्थान—राजसभा।

समय—प्रातःकाल।

[राम, लक्ष्मण, भरत, वशिष्ठ, अष्टावक्र और अन्य ऋषिगण।]

अष्टावक्र—महाराज ! यज्ञकी बहुत बड़ी तैयारी हुई है। निमंत्रित होकर सैकड़ों राजालोग राजदर्शनके लिए आये हैं।

राम—मुनिवर ! मैं धन्य हो गया।

अष्टा०—सागरपर्यन्त सारी पृथ्वीके लोग गंभीर स्वरसे आपके

गुणोंका बखान कर रहे हैं। सबके मुखसे " जय अयोध्याके स्वामी रामचन्द्रकी जय " यही सुन पड़ता है।

राम—घोड़ा कहाँ है ?

लक्ष्मण—महाराज ! यज्ञका घोड़ा दण्डकारण्यमें है।

राम—किसीने युद्ध किया है ?

अष्टा०—अयोध्याके महाराजका विरोधी संसारमें कौन है ? दक्षिण दिशाके सब राजाओंने सिर झुकाकर राघवका एकच्छत्र अधिकार स्वीकार किया है।

[द्वारपालका प्रवेश ।]

द्वार०—महाराजको आशीर्वाद देनेके लिए महर्षि वाल्मीकि आये हैं।

राम—कहाँ हैं ? शीघ्र सम्मानके साथ उन्हें ले आओ। कहो—मैं उनकी प्रतीक्षामें खड़ा हूँ। अथवा नहीं, मैं खुद जाकर उन्हें ले आऊँगा।

लक्ष्मण—नहीं नहीं, मैं उन्हें लिये आता हूँ। पहले उन्हें विश्राम कराकर अतिथिसत्कारसे सन्तुष्ट करके यहाँ लाना ठीक होगा। आप बैठिए महाराज, मैं जाता हूँ।

राम—ठीक है भाई लक्ष्मण। अतिथि-सत्कारका मुझे खयाल ही नहीं था। शीघ्र—अभी—जाओ भाई !

(लक्ष्मणका प्रस्थान ।)

भरत—महर्षि वाल्मीकिको निमन्त्रण तो शायद नहीं दिया गया। मुझे तो नहीं याद पड़ता। कैसी गलती हुई। बिना निमन्त्रणके इतनी दूर उनका आना क्यों हुआ है ?

राम—(स्वगत) उन्हींके आश्रममें घरसे निकाली हुई सीताने आश्रय ग्रहण किया था। उन्हींके आश्रममें वह सुंदरी लता लगाई

गई और सूख भी गई ।—हाय अभागिनी सीता ! वे ऋषिवर सीता-की स्मृतिसे परिपूर्ण हैं । वे मेरे सदाके पूज्य हैं ।

[लक्ष्मणके साथ वाल्मीकिका प्रवेश ।]

राम—भगवान्, राम श्रीचरणोंमें प्रणाम करता है ।—

वाल्मीकि—महाराज ! आपकी बड़ी आयु हो ।—सब ब्राह्मणों को मैं नमस्कार करता हूँ ।

(सब ब्राह्मणोंने वाल्मीकिको नमस्कार किया ।)

वाल्मीकि—(वशिष्ठ से) आप ही महर्षि वशिष्ठ हैं न ?

वशिष्ठ—हाँ मैं ही हूँ ।

राम—आज महर्षिने इतनी दूर पैदल आनेका कष्ट उठाया !

वाल्मीकि—महाराज ! चले बिना तपोबल से तो दूर निकट हो नहीं सकता । इसीसे पैदल आना पड़ा ।

राम—महाभाग ! आज आपके आने से मैं कृतार्थ हो गया ।

वाल्मीकि—मैंने सुना कि राजा रामचन्द्र अश्वमेध यज्ञ कर रहे हैं । आज तक राजाके दर्शन भी कभी नसीब नहीं हुए थे । इसीसे इस सुयोग में अयाचित भाव से बिना निमन्त्रण पाये ही मैं इतनी दूर चला आया ।

राम—भगवन् ! निमन्त्रण देनेका काम तो गुरु वशिष्ठजीको सौंपा गया था ।—क्षमा कीजिए ऋषिवर ।

वाल्मीकि—नहीं जी नहीं । मैं तो निमन्त्रणकी उतनी अपेक्षा नहीं रखता । ब्राह्मणों की वृत्ति ही भिक्षा माँगना है । मैं भी ब्राह्मण हूँ और भिक्षा माँगकर पेट पालता हूँ । निमन्त्रण मिले तब तो अच्छी ही बात है, और अगर न मिले तो मैं बिना निमन्त्रण पाये भी चला जाया करता हूँ ।—अच्छी बात है; अश्वमेध यज्ञ बहुत श्रेष्ठ यज्ञ है । उस पर आपके यज्ञ की तैयारी और धूमधाम

बहुत बड़ी देख पड़ती है । बहुत उत्तम है—बहुत सुन्दर है । कुल-गुरु वशिष्ठ जब उपस्थित हैं तब क्यों न ऐसा अच्छा यज्ञ हो !—हाँ महाराज ! इस यज्ञ में सहधर्मिणी कौन है ? किस भाग्यशालिनीने वह पद प्राप्तकिया है ?

राम—सीताकी ही सोनेकी प्रतिमा रखकर यह यज्ञ किया जायगा ।

वाल्मीकि—कौन ? क्या कहा ?–अब मैं बूढ़ा हुआ न, कानों से कम सुन पड़ता है ।—कौन ?

राम—सीताकी सोनेकी प्रतिमा ।

वाल्मीकि—सच ?

राम—सच ।

वाल्मीकि—राम तुम धन्य हो । प्रिय महाराज ! मैं तब तुम्हारे इस कार्यसे धन्य हो गया ।

राम—मैं धन्य हूँ ? भगवन्, रक्षा करो–रक्षा करो ! अब और न व्यंग्य करो । ऋषिवर ! सब से बढ़कर आपका यह गूढ़ तिरस्कार मेरे हृदय को पीड़ा पहुँचा रहा है । महर्षि ! अगर पत्नी-द्रोही अत्याचारी मैं धन्य हूँ, तो फिर संसार में पातकी कौन है ?—मुझे धन्य न कहकर धिक्कार दीजिए ।

[द्वारपालका प्रवेश ।]

द्वार०—महाराज ! दण्डकवनसे राजसेनाका भागा हुआ एक दूत आया है ।

राम—(चौंककर) राजसेनाका भागा हुआ दूत ! शीघ्र उसे ले आओ । वह जो खबर लाया है उसे सुननेके लिए मैं तैयार हूँ ।

[द्वारपालका प्रस्थान ।]

राम—लक्ष्मण, निश्चय ही मैं उस दूतके मुखसे कोई अत्यन्त

अद्भुत समाचार सुनूँगा ।

[द्वारपालके साथ दूतका प्रवेश और द्वारपालका प्रस्थान ।]

राम—दूत, क्या खबर लेकर आये ?

दूत—महाराज ! (चुप रह जाता है ।)

राम—कहो; रुक क्यों गये ?

दूत—महाराज !—

राम—केवल यही खबर है ? और क्या कहना चाहते हो-कहते क्यों नहीं ? फिर भी चुप खड़े हो ? और कुछ कहना है या नहीं ?

दूत—महाराज ! अभय दीजिए ।

राम—जो कहना हो वह निर्भय होकर मेरे सामने कहो ।-फिर भी चुप हो ? तो फिर क्या मैं कहना शुरू करूँ ? दण्डकवनमें घोड़ा कहीं किसी ओर भागकर लापता होगया है क्या ?—फिर भी चुप खड़े हो ! बोलो, क्या मामला है ? सुनूँ तो । गूँगेकी तरह चुपचाप खड़े मेरी ओर क्या ताक रहे हो ?

दूत—महाराज ! घोड़े को एक बालकने पकड़ लिया था ।

राम—उसके बाद ?

दूत—उसे छुड़ाने महाराजके भाई शत्रुघ्न गये ।-

राम—शत्रुघ्न गये ?-अच्छा उसके बाद ?

दूत—शत्रुघ्न घायल होकर बन्दी हुए ।

सब लोग—पागल है—पागल है ।-अरे क्या हँसी कर रहा है !

राम—मैंने कहा न था कि कोई अत्यन्त अद्भुत समाचार सुननेको मिलेगा ? (दूतसे) तुम दिनको सपना देखते हो ? चलो, जाओ । पागल-सिड़ी हो गये हो क्या ? बालकके हाथों शत्रुघ्न घायल और बन्दी हुए ! ! !

बाल्मीकि—(दूतसे) उस बालकका क्या नाम है ?

दूत—लव।

बाल्मीकि—लव ? दण्डकवनके पास ?

दूत—जी हाँ।

वाल्मीकि—बालककी अवस्था सोलह-सत्रह वर्षकी है ?

दूत- हाँ, इतनी ही अवस्था जान पड़ती है।

वाल्मीकि—(रामसे) महाराज ! इस दूतकी बात बिल्कुल सच होना भी संभव है। नहीं आधी सचाई तो उसमें जरूर ही होगी। उस बालक लवको मैं जानता हूँ।

राम—क्या महर्षि, इस दूतका कहना सच है ? देखता हूँ, महर्षि भी इस बात पर विश्वास करते हैं कि दुधमुँहे बालकने शत्रुघ्नको जीत लिया। अच्छी दिल्लगी है !

वाल्मीकि—यह दिल्लगी नहीं है महाराज ! लव साधारण बालक नहीं है।

राम—उसका जन्म किस कुलमें हुआ है ?

वाल्मीकि—वह रामचन्द्रके ही समान श्रेष्ठ और प्रसिद्ध कुलमें पैदा हुआ है।

राम—सूर्यवंशके समान वंशमें ? ऋषिवर, अच्छा सुनूं तो, उस बालकका पिता कौन है ?

वाल्मीकि—उसके पिता अयोध्याके स्वामी महाराज रामचन्द्र हैं।

राम—भगवान्, तो क्या मैं यह समझूँ कि यह लव सीताका पुत्र है ?

वाल्मीकि—जी हाँ। यह मेरा कथन बिल्कुल सच है। ईश्वर साक्षी है, लव और कुश दोनों आपके पुत्र हैं। जानकीके गर्भसे

मेरे आश्रममें दोनोंका जन्म हुआ है महाराज !

राम—तो वे कुमार इस समय कहाँ रहते हैं ?

वाल्मीकि—राजन्, वे अपनी माताके साथ मेरे आश्रममें रहते हैं। मैं इतनी दूर कुश और लवको उनका राज्याधिकार दिलानेके लिए ही आया हूं। अगर महाराज आज्ञा दें, तो उन्हें उनकी माता सहित ले आऊँ और पिताके हाथमें सौंप दूँ।

राम—नहीं महर्षि ! इस विश्वके भीतर अपने पुत्र और अपनी स्त्री पर सबका स्वत्व है—सबका अधिकार है; केवल राजा ही उस स्वत्व और अधिकारसे वंचित है।

वाल्मीकि—यह आपसे किसने कहा ?

वशिष्ठ—मुनि ! यह शास्त्रका विचार है। राजा की स्त्री, उसका राज्य है। राजाकी संतान उसकी प्रजा है। और, राजाका कर्तव्य कर्म केवल प्रजारंजन है। वही उसके जीवनका सारांश है। राजाका जीवन खेल नहीं, एक कठोर साधना है। सनातन शास्त्र कहता है कि राजाका जीवन फूलों की सेज नहीं है।

वाल्मीकि—वशिष्ठजी, तुम क्या कहते हो ? मैं वृद्ध और मूर्ख ऋषि हूँ। पहले जीवहत्या करनेवाला खूनी लुटेरा था। तथापि अन्तर्यामी जानते हैं, ऐसी कठोर व्यवस्था, ऐसी निर्मम निष्ठुर राजनीति मैंने कभी नहीं सुनी। दया-माया, भक्ति, स्नेह, अनुराग, प्रीति आदि पवित्र भाव सारे विश्वकी संपत्ति हैं; केवल राजाका ही उन पर अधिकार नहीं है ?—केवल राजा ही उन्हें नहीं पा सकता ? हाय, ऋषिवर, तुम गृहस्थ होकर ऐसी बात कहते हो ? तुम्हें ये वचन नहीं सोहते। राजा ब्याह करेगा, लेकिन स्त्री और पुत्र पर उसका अधिकार नहीं होगा ? तो फिर यही विधान क्यों नहीं कर दिया कि "राजा के लिए ब्याह करना शास्त्र-विरुद्ध है ?" यह विधान उस निष्ठुर विधान से कहीं अच्छा होता। यह

नीति उतनी निष्ठुर निर्मम नहीं होती।

वशिष्ठ—(रामसे) अच्छा तो महाराज, तुम कुश और लवको ग्रहण कर सकते हो; क्योंकि तुम्हारे और कोई पुत्र नहीं है। महर्षि वाल्मीकि कह रहे हैं कि लव-कुश दोनों तुम्हारे पुत्र हैं; अब तुम निश्चिन्त नर्भय होकर उन्हें ग्रहण करो।

वाल्मीकि—और सीता ?

राम—(अनमने भावसे) सीता, सीता आज सपना सी जान पड़ती है।

वशिष्ठ—सीता ?—ऋषिवर, धर्ममतके अनुसार सीताका स्वीकार नहीं किया जा सकता।

वाल्मीकि—वशिष्ठजी, यह किस लिए ? मैं मूर्ख ऋषि, जन्म से ही वन में रहता हूँ। महात्मा, मुझे धर्म आदिका अधिक ज्ञान नहीं है।

वशिष्ठ—जिस कारण से सीताका त्याग किया गया है वही कारण अभी तक बना हुआ है महर्षि !

वाल्मीकि— जानता हूँ—जानता हूँ। बस रक्षा करो भगवान् ! इस सभाको, इन कानोंको और इस वायुमण्डलको वे निन्दाके वचन कह-कर कलुषित मत करो। हरि साक्षी हैं, वह निन्दा अपमानके समान, सुकठिन अत्याचारके समान, जहरीली गुप्त छुरी के समान उस सुकोमल हृदयमें अत्यन्त तीक्ष्ण चोट पहुँचा चुकी है। वह कलंक, वह अपवाद, गहरे अन्यायके सिवा और कुछ नहीं है।—रामचन्द्र ! मैं जानता हूँ, तुम पृथ्वी पर साक्षात् धर्मके अवतार हो। किन्तु नहीं मालूम, किस तर्कके घोर कुचक्रमें पड़कर तुमने अपनी साध्वी सती स्त्री के साथ यह व्यवहार किया है।

वशिष्ठ—महामति ! रामने कर्तव्य के लिए, राजधर्म की रक्षा-के लिए, यह सब किया है ! प्रेम बड़ा है या कर्तव्य बड़ा है ?

वाल्मीकि—महाभाग ! क्या स्त्री के प्रति पतिका कुछ कर्तव्य नहीं है ?—महाराज ! अच्छा तो सुनो । क्या तुमने शास्त्र का अनादर नहीं किया है ? तुम पति हो, सीता तुम्हारी पत्नी है । क्या शास्त्रके अनुसार पत्नी को आश्रय देना पतिका कर्तव्य नहीं है ? पत्नी भेड़-बकरीके समान पतिकी सम्पत्तिमात्र नहीं है कि जब चाहे पति उसे रक्खे, और जब चाहे छोड़ दे । जैसी सुबिधा, रुचि, इच्छा या प्रवृत्ति तुम्हारी हो, उसके अनुसार स्त्रीको रखने या निकाल देने का तुमको भी अधिकार नहीं है । सुनो--तुम्हारी ही तरह स्त्रीके भी हृदय है, और वह हृदय सुख--दुःख, मान--अपमान आदिका अनुभव करता है ।--खैर, सीता तुम्हारी भार्या है, यह भी तुम भूल जाओ । केवल इसी दृष्टि से देखो कि तुम राजा हो, और सीता भी तुम्हारी प्रजा है । वह अपवाद और अपमान से सताई गई है ! अगर विश्वभर की निकली हुई निरपराधिनी सीता तुम्हारे द्वार पर आकर केवल अपने विचार की प्रार्थना करे, तो न्याय के अनुसार उसका अभियोग सुनना और विचार करना राजाका--तुम्हारा--कर्तव्य है ! क्या राम आज वह विचार (इन्साफ) करना भी अस्वीकार करते हैं ?

राम—अस्वीकार नहीं करता; लेकिन असमर्थ हूँ ।

वाल्मीकि—असमर्थ हो ? राम ! तुम विचारक हो; तुम साक्षात् न्याय हो; तुम राजा हो । राजसिंहासन पर बैठकर कैसे तुम्हारे मुँहसे यह बात निकली ? कुछ भी संकोच नहीं हुआ ? कुछ भी मुँह नहीं मैला हुआ ? केवल विचार—कृपा नहीं—वह भी नहीं कर सकते हो ? अगर यह सच है तो रामचन्द्र, फिर क्यों राजसिंहासन पर बैठे हो ? क्यों यह राजदण्ड धारण किये हो ?—सिर पर यह उज्ज्वल मुकुट क्यों हैं ? बाहर विचारका यह

व्यंग्य अभिनय क्यों दिखाया जाता है ? सिंहासनसे उतर आओ। किसी वनके गाँवमें चले जाओ। यह मुकुट उतार डालो, राजदण्ड फेंक दो और अपने असमर्थ मस्तकके ऊपरसे राजतिलक पोंछ डालो। अगर केवल कोरा विचार करनेमें भी असमर्थ हो, तो राजसिंहासन पर क्यों बैठे हो ? राम ! धर्मका अगर यही पुरस्कार और परिणाम है तो फिर तुम्हीं कहो, उसके महात्म्य पर कौन विश्वास करेगा ? (वशिष्ठसे) ऋषिवर, तुम पूछते हो कि प्रेम बड़ा है या कर्तव्य ? मैं मूर्ख हूँ, पर मेरी समझमें प्रेम उच्च है, प्रेम श्रेष्ठतर है। प्रेम राह दिखाता है और कर्तव्य उसी राहसे चलता है। प्रेम विधान देता है, और कर्तव्य उसका पालन करता है। महाभाग ! प्रेम भ्रम नहीं है; प्रेम पागलका खयाल या सपना नहीं है। प्रेम सत्य है, प्रेम पुण्य है। प्रेम कभी मिथ्या नहीं कहता। जहाँ धर्म है वहाँ प्रेम है। जहाँ पाप है वहाँ प्रेम नहीं रहता। प्रेम प्रभु है; कर्तव्य उसका भृत्य है। इस चराचर विश्वमें क्या प्रेमका राजत्व नहीं है ? विश्वस्रष्टा और संसारके नियामक जगदीश्वर क्या प्रेममय नहीं हैं ? विधि और समाज प्रेमहीसे संगठित हैं। प्रेम परिणय-सूत्रमें बँधकर नित्य नई सृष्टि करता है। कोरा कर्तव्य तो निर्जीव, मूक, हिमतुल्य जड़, अवसन्न, निराकार, कठिन पाषाणका स्तूप है। प्रेम कारीगरकी तरह उसे आकार देता है। कर्तव्यके सूखे कंकालको घेरकर प्रेम उसमें मांस भरता है; उसे पोशाक पहनाता है। सूखे पेड़ोंमें प्रेम ही नव पल्लव और फूल-फल पैदा करता है। घामसे तपी हुई धरती पर रात्रिके समान प्रेम आकर लोगोंके हृदय शीतल करता है। पवित्र शीतल जल और मंद पवनसे भी बढ़कर प्रेम सुखदायक है। धीरेसे चिन्ताके मस्तकमें निद्राके समान आकर प्रेम शान्ति देता है। कर्तव्य क्या प्रेमसे उच्च है ? कभी नहीं।

(रामसे) महाराज ! आँख उठाकर देखिए, यह विश्व प्रेमहीसे हराभरा हो रहा है। दिगन्तविस्तृत यह नील आकाश प्रेमहीसे उद्भासित हो रहा है । प्रेमके प्रभावसे ही नील गगनमें सूर्यका उदय होता है, लाखों नक्षत्र निकलते हैं, चन्द्रमा हँसता हुआ देख पड़ता है । प्रेमसे ही जल बरसता है, नदियाँ बहती हैं । प्रेमसे ही कुञ्जोंमें ढेरके ढेर फूल खिलते हैं । प्रेम अन्धकारमें प्रकाश दिखाता है । विश्वके हाहाकारमें नित्य निरन्तर प्रेमकी वीणा बजकर स्वर्गीय संगीत सुनाती है ।

वशिष्ठ—वाल्मीकि ! तुम जीत गये । मैं अपना सिर झुकाकर पराजय स्वीकार करता हूँ । जाओ रामचन्द्र, वाल्मीकिकी आज्ञाके अनुसार काम करो । राजन् ! जानकीको ग्रहण करो ।

राम—इतने दिनोंके बाद आज मेरे लिए सुप्रभात हुआ ।–कल सब लोगोंके साथ दण्डकवनको जाऊँगा। शीघ्र पुष्पकरथ तैयार किया जाय । जबतक मैं वहाँसे नहीं लौटूँ तबतक मेरे प्रतिनिधि होकर भरत राजकाज देखेंगे ।–यज्ञ अच्छी तरह संपूर्ण हो । (वशिष्ठसे) गुरुदेव ! अत्यन्त शुभ घड़ीमें आपने यज्ञकी सलाह दी थी । हे देव ! मैं आपको हृदयसे धन्यबाद देता हूँ । उसे स्वीकार करके मेरा अपराध क्षमा कर दीजिए । आज इस शुभ दिनमें आशीर्वाद दीजिए कि, मैं कुशलपूर्वक अपनी स्त्री और पुत्रोंको पाऊँ । यज्ञ समाप्त कीजिए । जी खोल कर सबको सुवर्ण-रत्न बाँटा जाय । और (वाल्मीकि से) महाभाग ! आप मेरे हृदयकी श्रद्धा, भक्ति और कृतज्ञता ग्रहण करके मेरे सिर पर शान्तिके जलसे अभिषेक कीजिए । सब पुराने घाव, सारी व्यथा, अशान्ति और दुःख दूर हों । आप और वशिष्ठजी, दोनों मिलकर आज मुझे आशीर्वाद दीजिए ।

वाल्मीकि—महाराज ! तुम्हारी सब कामनायें पूर्ण हों।

वशिष्ठ—राजन् ! तुम्हारी कामनायें पूर्ण हों।

राम—लक्ष्मण ! आज्ञा दो–हर घर के ऊपर, महलों के मस्तक पर सुन्दर रंग रंग की पताकायें लगाई जाँय और वे बसन्तकी इस मनोहर हवामें फहरायँ। सारे पुरमें मनोहर छन्द-तान-लयके साथ मंगल-गान गाये जाँय। उन्मत्त आनन्दको प्रकट करके आकाशको विदीर्ण करते हुए मंगल के बाजे बजाये जायँ। घर घर शंखध्वनि हो।– अब मैं अन्तःपुर में माता के पास यह शुभसमाचार सुनाने जाता हूँ।

(प्रस्थान।)

वाल्मीकि—सीता सीता, मेरी सौभाग्यशालिनी बेटी, तुम धन्य हो ! जानकी, तुम सत्रह वर्ष तक लगातार दिनरात नित्य जिनके लिए रोती रही हो, वह तुम्हें नहीं भूले। देख जा बेटी, अब वृथा रोने की जरूरत नहीं है। तुम्हारा मुख सदा उदास और पीला बना रहा करता था। उस मुख में इतने दिनोंसे आजतक मैंने हँसी नहीं देखी—आज देखूँगा। विषाद से सदा मलिन रहनेवाली उन दोनों आँखों को आज आनन्दसे उज्वल देखूँगा।—हे हरि ! आज मैं तुमको हृदयके भीतरसे धन्यवाद देता हूँ—उसे ग्रहण करो।—हे धर्म ! तुम मिथ्या नहीं हो। विश्वमें इस समय भी प्रेम, दया, भक्ति, स्नेह और चरित्रका महत्त्व है।—हरि ! दयामय हरि ! आज मैंने अच्छी तरह जाना कि तुम सत्य हो।

(प्रस्थान।)

तीसरा दृश्य ।

स्थान—दण्डकवन, आश्रम ।

समय—रातका पिछला पहर ।

[सीता और वासन्ती ।]

सीता—कितनी रात है वासन्ती ?

वासन्ती—मैं तो समझती हूँ रात बीतनेमें कुछ ही घड़ियाँ बाकी हैं।

सीता—अभी कौए नहीं बोले ?

वासन्ती—कहाँ, अभी तो नहीं बोले ।

सीता—न बोले होंगे ।—अच्छा वासन्ती, तो फिर कुटीके द्वार सब खोल दो; धीमी धीमी सबेरेकी ठंडी हवा प्रिय बाल्यबन्धुके समान आकर मेरे गलेसे लग जाय ।

वासन्ती—नहीं बहन, तुम्हारे अंग गर्म हैं; सबेरेकी ठंडी हवा लगनेसे ज्वरका वेग और भी बढ़ जायगा । ज्वर तो अभी वैसा ही है, कम नहीं हुआ है ।

सीता—ओठ सूख रहे हैं वासन्ती, जल दो । ओ, कैसी जलन है ! नसनसमें जैसे आगकी लहर दौड़ रही है !

वासन्ती—बहन, क्या सिरका दर्द कम नहीं हुआ ?

सीता—कहाँ कम हुआ ?—वासन्ती, ऋषिवर वाल्मीकि आज भी नहीं आये ?

वासन्ती—बहन, यहाँसे अयोध्या क्या दो एक दिनकी राह है ? महर्षि शीघ्र ही कोई मंगल-समाचार लेकर आते होंगे; तुम धीरज धरे रहो बहन—

सीता—बहन ! धीरज !—धीरज किसे कहते हैं ?—कौन राजकन्या, राजाकी पत्नी, वीरपुत्रकी माता ऐसी अभागिनी होगी !

त्यागी हुई, निकाली हुई, राह राह मारी मारी फिरनेवाली कुतियाकी तरह हो रही हूँ। फिर भी, ऐसा पिता, ऐसा पति और ऐसा पुत्र और किस स्त्रीको नसीब है? बस, सान्त्वनाके वचन न कहना।—सुनो, वे उस वन-कुञ्जमें डालियों पर सैकड़ों—हजारों—लाखों चिड़ियाँ चह-चहा उठीं। कुटीका द्वार खोल दो—

(वासन्ती द्वार खोल देती है।)

सीता—वह देखो, ज्योतिमयी उषा धीरे धीरे सुनहले चर[illegible] हुई सुदूर ऊँचे पहाड़की चोटी पर चुपचाप आकाशसे उ[illegible] हूँ। रही है।—वासन्ती, आज मेरे मनमें ऐसा भाव क्यों [illegible] है कि यह प्रभात जैसे अपनी सुनहली किरणोंसे मेरी अन्ति[illegible] तुम रच रहा है! जान पड़ता है, यह बिना बादलका निमल [illegible] जिनके मेरे जीवनका अन्तिम प्रातःकाल है।—वही हो बहन—[illegible] वृथा भरी श्यामवर्ण, चहचाहते हुए पक्षियोंके शब्दसे गूँजती [illegible] बना भूमि मुझे आज घेरे रहे।—पुण्यमयी गंगाके किनारे—सब[illegible] नहीं शोक मैं भूल जाऊँ—और, मुझे सुखकी मौत मिले। [illegible] दोनों

वासन्ती—यह क्या अकल्याण बक रही हो दीदी! क[illegible] तुम-अच्छे नहीं हो जाते? [illegible] धर्म!

सीता—जानतो हूँ, रोगी अच्छे हो जाते हैं; सब रोग मिट जाते हैं। आगमें जलनेके समान पीड़ा पहुचानेवाले ज्वर के विकारसे जीव बच जाता है; यहाँ तक कि प्रबल असाध्य राजयक्ष्माके रोग-से भी रोगी बच जाते हैं। किन्तु हाय! जो रोग शरीर का नहीं, मनका है; जिस रोगका कारण पतिका करुणारहित कठिन उपेक्षाका भाव है वह कभी नहीं अच्छा होता। पुत्रकी अश्रुहीन सूखी करुणामि-श्रित घृणासे पैदा हुआ कठिन रोग असाध्य है!—बहन, वह अच्छा नहीं हो सकता!

वासन्ती—(स्वगत) अब और क्या सान्त्वना दूँ ?—यह व्यथा सान्त्वनासे परे है ! धीरज बँधाना वृथा है।

सीता—वासन्ती ! लव कहाँ है ?

वासन्ती—तुम्हारे सिरहाने ही पड़ा सो रहा है।

सीता—(फिरकर देखकर) अहो, मेरे लिए मेरा लाल रात भर जागता रहा है, सवेरे सो गया है।—प्रिय बहन ! तुम्हारे दोनों हाथ पकड़कर मैं जो कहती हूँ सो सुनो। इस रातके बीतने पर जैसे कोई मेरे कानोंमें वारंवार कहता है कि आज मेरे जीवनका आख़िरी दिन है। अच्छी तरह मेरी समझमें आरहा है कि आज मेरा सब समाप्त हो जायगा। वासन्ती ! अगर ऐसा ही हुआ तो आजका दिन मेरे सब दुःख दूर कर देगा। कुछ सोच न करो, रोओ नहीं। इस स्थिर, श्यामल प्रफुल्लित वनभूमिकी गोदमें, विश्वके जागरणके बीचमें, मैं आज सो जाऊँगी। तो बस आज वह मेरी सुखकी मौत होगी। बहन, आज यह पददलित, शून्य असार मेरा जीवन समाप्त हो जायगा। यन्त्रणाका अन्त करनेवाला, दुःखहीन, शान्तिसे भरा यह आज मेरे बड़े सुखका दिन है।—बहन ! तुम मेरे पुत्र कुश और लवको देखना। अयोध्यामें जाकर राघवसे कहना—लव और कुशको उनके हाथमें सौंपकर कहना—"सीता बड़े सुखसे मरी है। इन दोनों बालकोंके तुम पिता हो। तुम पृथ्वीके राजा हो; तुम न्यायनिष्ठ वीर हो। सीताका यह आखरी सँदेसा—यह आखिरी भिक्षा है। दोनों पुत्रोंके साथ यथोचित व्यवहार करना। और—और नया ब्याह करके तुम सुखसे रहो।" जगदीश्वर ! आँखोंके आगे यह अन्धकार कैसा छाया जाता है ! शरीर शिथिल हुआ जा रहा है। वासन्ती ! यह क्या है ?—

वासन्ती—बहन ! जान पड़ता है, ज्वर उतर रहा है।

सीता—यही होगा। (चौंककर) वह क्या है ?

वासन्ती—कहाँ ?

सीता—वह दूरपर सूनसान जंगलमें तुम्हें कोई शब्द क्या नहीं सुन पड़ता ? मुझे तो जान पड़ता है, मैं जैसे दूरपर घोड़े की टापोंका शब्द सुन रही हूँ।

वासन्ती—कहाँ बहन ?

सीता—वह सुनो; क्रमक्रमसे और भी स्पष्ट सुनाई पड़ रहा है–जैसे दो घोड़े एक साथ आ रहे हैं।

वासन्ती—हाँ ठीक है; पर वह शब्द नदीतटमें जैसे लीन हो गया।

सीता—देख तो आओ बहन।

वासन्ती—अच्छा, देखे आती हूँ। तुम स्थिर होकर पड़ी रहो।

(प्रस्थान।)

सीता—(उठ कर कान लगाकर सुननेके बाद) हा मेरे मूढ़, विश्वासी, भ्रान्त, दुर्बल, हृदय ! वे नहीं हैं—मूढ़ ! वे नहीं हैं ! (लेट जाती है) वह प्रभु राजेन्द्र मेरी इस कुटीमें क्यों आवेंगे ? तो भी यह हृदय क्यों अस्थिर हो रहा है ? इस तरह शरीर क्यों काँप रहा है ? क्यों आँसू आँखोंमें नहीं रोके रुकते ?–वे आवेंगे ? वे महाराज हैं, वे विश्वपति हैं—वे आज, अपने ऊँचे राजमहलको छोड़कर दरिद्रकी कुटियामें आवेंगे ? (गर्वके साथ) क्यों नहीं आवेंगे ?—हाँ मैं अभागिन हूँ; तब भी क्या वे मेरे स्वामी नहीं हैं ? वे सम्राट् हों, इससे क्या ? क्या मैं उनकी सम्राज्ञी नहीं हूँ ? मैं आज मलिना, परित्यक्ता, धूलिधूसरिता हूँ–तो भी क्या उनकी धर्मपत्नी नहीं हूँ ?–यह दुराशा !–हाय अन्ध मुग्ध प्यार ! वे इस अभागिन-के अब कोई नहीं हैं;–वह और किसीके हैं; वह कौन भाग्यशालिनी

है? उसने पूर्वजन्मके किस पुण्यके फलसे उन्हें पाया है?—छाती क्यों आँसुओंसे भीगी जाती है?—वे सुखी हों—मैं अभागिन हूँ, समुद्रके जलबिम्बकी तरह उस अतल जलमें मिल जाऊँ।

चौथा दृश्य।

स्थान—दण्डकवनका प्रान्तभाग।

समय—प्रभात।

[राम और लक्ष्मण।]

राम—ऋषिवर वाल्मीकि कहाँ हैं?

लक्ष्मण—वे देवी जानकीको आपके आनेकी खबर देने गये हैं।

राम—(इधर उधर टहलकर) कहाँ, अभीतक लौट कर नहीं आये?—यह क्यों?—मैं खुद जाकर देखूँ।

लक्ष्मण—भाई ठहर जाइए। महर्षि मना कर गये हैं। देवीका शरीर अत्यन्त क्षीण हो रहा है, इसीसे—वह देखिए महर्षि आरहे हैं।

राम—(आगे बढ़कर) क्यों महर्षि! मेरी सीता कहाँ है?

[वाल्मीकि का प्रवेश।]

वाल्मीकि—रामचन्द्र! अभी समय नहीं है। सीता अभी सो रही हैं। मैं इतना बूढ़ा हुआ हूँ, मगर ऐसा अद्भुत परिवर्तन कभी नहीं देखा। मेरी बात सुनते ही उसके शरीरमें एक नई स्फूर्ति सी आगई। पीले पड़ गये कपोलों पर लाली दौड़ गई। मृदुहास्यने आँसुओंके जलसे एक नई सृष्टि रच डाली; जैसे धीरे धीरे शिशिर ऋतुमें स्निग्ध सूर्यकी किरणें आकर पड़ीं। दोनों हाथ फैलाकर धीमे स्वरमें जानकीने कहा—वे कहाँ हैं?—जानकीका स्वर गद्गद हो

आया। वैसे ही जिसकी जड़ कट गई हो उस लताके समान मूर्च्छित होकर जानकी पृथ्वी पर गिर पड़ी। बासन्तीने चटपट उसे उठाकर छातीसे लगा लिया। लव उसी समय घड़ा भर पानी ले आया और जानकीके मुख पर पानीके छींटे दिये। जानकीको इससे होश आगया। थकी हुई सीता अन्तको मेरी आज्ञासे विश्रामके लिए चली गई। वह वासन्तीके स्नेह-मय हृदयसे लगकर, उसके गलेमें दोनों हाथ डालकर, धीरे धीरे शान्त, स्निग्ध, गंभीर सुखके वेगमें सो-रही। इस समय सीता सो रही है, उसे सोने दो। रातभर उसने आँख नहीं लगाई–इस समय वह भाग्यशालिनी थकी–बहुत ही थकी–है।

राम—पुत्र कहाँ हैं? लव और कुश कहाँ हैं?

वाल्मीकि—वे भी अपनी माताके पास हैं। जाऊँ, उन्हें बुला लाऊँ। वह लो कुश तो आप ही इधर आ रहा है।–कुश! लव कहाँ है?

[कुशका प्रवेश।]

कुश—लव माताके पास है। इस समय उनके पास जागकर उनकी सेवा कर रहा है।

वाल्मीकि—कुश! ये तुम्हारे पिता महाराज रामचन्द्र हैं; और ये तुम्हारे चाचा लक्ष्मण हैं। इनके चरणोंमें प्रणाम करो।

कुश—(रामको प्रणाम करके, उन्हें देखकर स्वगत) यही राम हैं! यही अयोध्याके अधीश्वर हैं!–जिनकी गुणगाथा–जिनका नाम–समुद्रपर्यन्त प्रसिद्ध है; जिनकी कीर्ति अक्षय और अमर है और हजारों लोगोंके मुखसे सुन पड़ती है। लङ्काके समरको जीतने वाले बड़ी भारी व्यवस्थाके स्थापित करनेवाले रघुबर यही हैं! मैं भाग्यशाली पुत्र धन्य हूँ, जिसके पिता अयोध्याके स्वामी महाराज

रामचन्द्र हैं !

[लवका प्रवेश ।]

वाल्मीकि—लव ! यह तुम्हारे पिता रामचन्द्र और यह चाचा लक्ष्मण हैं; इनके चरणोंमें प्रणाम करो ।

लव—(लक्ष्मणके चरणोंमें प्रणाम करके) मैं भाग्यवान् हूँ तपोधन ! जिसके चाचा ऐसे हैं ।–चाचाजी, मैं श्रीचरणोंमें प्रणाम करता हूँ ।

(जाना चाहता है ।)

वाल्मीकि—लव ! पिताके चरणोंमें प्रणाम करो !

लव—(फिरकर अभिमानके साथ)महर्षि ! जो पत्नी किशोरावस्थामें वनवासमें छायाके समान रामके साथ रही, जो पत्नी लङ्कामें --उस दीर्घप्रवासमें-सदा हरघड़ी रामके लिए आँसू बहाती रही; उसी पत्नीको लोकनिन्दाके भयसे अनायास निर्वासन दण्ड देनेवाले-रामको–क्षमा कीजिएगा इस दासको ऋषिवर—भगवन् ! उन रामको लव नहीं प्रणाम करेगा ।–उस अटल विश्वासके साथ इन रूढ़ रामने अविचार किया है । उस अगाध प्रेमकी छातीमें इन्होंने सेल मारी है । उस अनन्त निर्भरको इन्होंने पैरोंसे रौंद डाला है ।—देव ! यह अयोध्याके ईश्वर हों; ये सब जगतके स्वामी हों; पर ये तुच्छ हैं–ये मिट्टीके बराबर हैं । ये लाख रावणोंके जीतनेवाले हों, मगर मैं इन्हें सौ बार कायर कहूँगा । (रामचन्द्रसे) पिता ! रामचन्द्र तुम पृथ्वीके पति हो ? तुम पुरुषोत्तम हो ? तुम वीर हो ? तुम धर्मपरायण हो ?–निष्ठुर ! निर्मम ! धिक्कार है ! कापुरुष ! धिक्कार है ! तुम्हारे पापकी सीमा नहीं है । प्रभु, राजेन्द्र ! तुम्हारे इस उच्च ललाटमें चिरकाल तक यह कलंक-कालिमा पुती रहेगी ! पिता ! याद रखिए; तुम्हारे यशकी ध्वनिमें यह अन्याय सदा विकट

शब्दसे गरजता रहेगा ।

राम—(भग्नस्वरसे) लव ! मेरे दोनों पुत्रोंमें तुम अधिक श्रेष्ठ हो ! मैं पृथ्वीका अधीश्वर आज तुम्हारे आगे सिर झुकाकर गर्वभरी लज्जाके साथ क्षमाकी भीख माँगता हूँ । आओ बेटा मेरे हृदयसे लग जाओ ।-लव ! तुम क्या मुझे क्षमा नहीं करोगे ?

(हाथ फैला देते हैं ।)

वाल्मीकि —मुझ बूढ़ेकी दोनों आँखोंमें आँसू भरे आते हैं ।—लव ! तुम तो भी चुप हो ? पुत्रसे पिता क्षमा माँगता है ! तो भी तुम कठिन बने हुए हो ! वाल्मीकिके निकट इतने दिनों तक तुमने यही शिक्षा पाई है !

लव—(राम से) हे अयोध्याके महाराज ! क्षमा अपनी पत्नी-से माँगो !—वे क्षमा मयी साध्वी सती शायद तुम्हें क्षमा करदें !-तुम बड़े भाग्यवान् हो ! विधाता से कृपा-करुणा माँगो ।—और क्या कहूँ-पिता ! रामचन्द्र! तुम पिता हो, मैं पुत्र हूँ । किन्तु हाय ! वह परिचय देते समय मैं लज्जासे लाल होकर सिर झुका लेता हूँ ।

(पर्दा गिरता है ।)

पाँचवाँ दृश्य ।

स्थान—दण्डक वन ।

समय—तीसरा पहर ।

[वाल्मीकि और राम ।]

वाल्मीकि—सीता आप ही आरही है । मैंने कहा-"उठो भाग्य-शालिनी ! इस कुटी में राम आरहे हैं ।" सीताने कहा-"ना प्रभु !

स्वामी इतनी दूर मेरे लिए आये हैं । अब मैं खुद उनके पास जाऊँगी। आज्ञा दीजिए । भगवान ! यह न सोचना कि मैं कमजोर बहुत हूँ । आज मैंने देह में बल, हृदय में विश्वास और निराशामें आशा पाई है । चित्तमें यही अभिलाषा है कि स्वयं जाकर नाथकी अभ्यर्थना करूँ—आप जाकर उन प्रिय चरणोंमें प्रणाम करूँ ।" रामचन्द्र ! यहीं राह देखो । अच्छा तो मैं जाकर सीता को ले आऊँ ।

(प्रस्थान ।)

राम—फिर सामना होगा । क्या कहूँगा ? इतने दिन—सत्रह बरस—के बाद भेंट होगी ! क्या कहूँगा ?—हृदयके भीतर उथल-पुथल मची हुई है; तूफान सा आया है । आँखोंमें आँसू भरे आते हैं । कितनी ही बातें कहनेको हैं ।—हाथ पकड़कर क्षमा माँगूँगा ?—क्या कहूँगा—क्या कहकर क्षमा माँगूँगा ?—प्रिया क्या उत्तर देगी ? कानोंतक फैली हुई नील कमल-दलसी उसकी दोनों आंखोंमें आंसू भर आवेंगे; उसके अरुण वर्ण होठोंमें मुसकिराहट देख पड़ेगी । होठ हिलाकर उसी चिर-परिचित स्वरमें—उसी मधुर कण्ठसे—सीता कहेगी—"आर्यपुत्र ! प्राणेश्वर ! जीवनवल्लभ !" मैं क्या उत्तर दूँगा ?—वह सीता आ रही है ।—यह क्या ! शरीर इतना टूटा हुआ है ?—कमर झुकी सी जाती है; फीके ओसके रंगके कपोल देख पड़ते हैं । गति अत्यन्त धीमी और डगमगाती सी है । तथापि होठोंमें वह मीठी स्निग्ध स्वाभाविक हँसीकी रेखा झलक रही है । मस्तक पर गरिमा या गौरवका भाव, मुखमण्डलमें क्षमा का भाव और आँखोंमें जल झलक रहा है । साक्षात् करुणा और अनुकम्पाकी मूर्ति जान पड़ती है ।

[सीताका प्रवेश ।]

राम—सीता !

सीता—महाराज !

राम—सीता !–इतने दिनों के बाद आज यह संबोधन ! "महाराज !" यह सूखा संबोधन !— प्राणेश्वरी !—अथवा उस पुराने सम्बन्ध पर अब मेरा क्या अधिकार है। तुम्हारे और मेरे बीचमें बड़ा अन्तर हो गया है–तुम स्वर्गकी देवता हो, और मैं क्षुद्रहृदय नरलोक का एक मनुष्यमात्र हूँ। तुम सताई हुई हो; मैं तुम पर अत्याचार करनेवाला हूँ।—सीता ! सीता ! सीता !—क्षमा करो।

(सीताके सामने घुटने टेक कर बैठ जाते हैं।)

सीता—क्या करते हो पृथ्वीनाथ ! इस मिट्टी—इस धूल—पर यों बैठना महाराजको नहीं सोहता !

राम—आज मैं महाराज नहीं हूँ ! कहो तो तुम्हारी आज्ञासे इस राजवेशको उतारकर दूर फेंक दूँ। यह मणिमय स्वर्णमुकुट उतारकर फेंक दूँ—क्योंकि यह मुझे नहीं सोहता। हाथ जोड़ कर, सिर खोलकर, घुटने टेक कर, आज भिक्षुकके समान तुमसे क्षमा माँगता हूँ।—सीता ! क्षुद्र वर्त्तमानको भूल जाओ !–मैं राजा हूँ, तुम राजाकी कन्या हो, यह भूल जाओ ! सिर्फ इतना ही समझो कि तुम सीता हो, और मैं राम हूँ—बस ! केवल उन पुराने दिनोंको याद करो, जब पञ्चवटी वनमें हम तुम तापस–तापसीकी तरह रहते थे। वह गोदावरी नदी, वह पहाड़के तलेकी भूमि, वे निरन्तर चिड़ियोंकी चहचहाहटसे भरे निकुंज याद करो। प्रिये ! जीवनका वह प्रभातकाल, वह शैशवके प्रथम प्रणयकी कथा स्मरण करो। वह प्रेमकथा पहाड़ी नदीकी तरह सरल सुन्दर स्वच्छ थी; हेमन्तके घन-नील आकाशकी तरह मुक्त, असीम, उदार और अनियत थी। घनघटाने आकर उस सुन्दर प्रेमको–उस गहरी स्नेहराशिको–छाया था; संसारनियमने इस चित्तको जंजीरकी तरह बाँध लिया था।

सीता ! आज मैं वह भ्रम समझ गया हूँ !—क्षमा करो सीता ! प्रिये, अपनी पुण्यराशिसे मेरे कलुषको धो दो ।

सीता—आँखोंमें आँसू आ जानेसे मुझे देख नहीं पड़ता ! आँसुओंके मारे कंठ जैसे रुँध गया है ! इसी कारण अबतक तुम मेरे पैरों पर पड़े रहे और मैं ठगी सी खड़ी रही । उठो आर्यपुत्र, उठो नाथ, उठो स्वामी—

राम—जबतक तुम अपने मुँहसे यह नहीं कह दोगी कि मैंने क्षमा कर दिया, तबतक मैं नहीं उठूँगा ।

सीता—नाथ ! मैंने इतने दिनोंतक नित्य जिनकी आराधना की है; जनके दर्शनमात्रसे सब साधनाओंकी सिद्धि समझती हूँ; जो अन्तमें मुझे मोक्ष दाता हैं; विपत्ति और संपत्तिके समय जो मेरे साथी और स्वामी हैं; ज्ञान और अज्ञानकी सब अवस्थाओंमें जो मेरे ध्यानका विषय हैं; उन्हें मैं क्या क्षमा करूँ ? मैं सदा तुम्हारी दासी हूँ और तुम मेरे स्वामी हो । तुम गुरु हो, मैं शिष्य हूँ । जो तुम कहो उसे वेदवाक्य समझकर सिर आँखोंसे मानूँगी; उसके बारेमें दूसरी जबान नहीं कहूँगी—कुछ प्रश्न नहीं करूँगी । तुम मेरे देवता हो, मैं तुम्हारी भक्त हूँ । तुम जो करो वह यदि रूढ कठोर हो तो भी उसे ईश्वरकी विधान समझकर स्वीकार करूँगी । मैं केवल यही जानती हूँ कि तुमको अपना सबसे बड़ा इष्टदेव मानती हूँ । मेरे लिए तुम ही सर्वदेवमय हो । सत्य और असत्य, न्याय और अन्यायका विचार करनेकी शक्ति मुझमें नहीं है—अधिकार भी नहीं है । नाथ ! सत्रह बरसके बाद आज मैंने फिर तुमको पाया है, इसीसे पहलेकी सब व्यथा और दुःख भूल गई हूँ ! आज मुझे पूर्ण सुख है । आज मेरे मनमें शोक, ताप, क्षोभ, दुःख आदिका लेश नहीं है ।

राम—समझ गया प्राणेश्वरी ! प्रिये ! आज भी तुम मेरी वही सीता हो—वही सदा प्रेममयी, कोमलप्रकृति, दिव्य, चिरज्योत्स्ना-मयी, चिरस्नेहमयी, चिरक्षमामयी हो !

सीता—वे महर्षि वाल्मीकि कुश और लवको लिये आ रहे हैं।

[लव और कुशको साथ लिये महर्षि वाल्मीकिका प्रवेश ।]

वाल्मीकि—महाराज ! तो फिर अब यहाँ पर वाल्मीकिका काम समाप्त हो चुका ! पति-पत्नी मिल गये; मेरे मनकी कामना पूरी हो गई। आजसे सारा विश्व "जय सीता-राम !" कहेगा—सब लोग सीता-रामका नाम जपेंगे। मैंने अभी रामायण-गान समाप्त करके कुश और लवको याद करा दिया है।

राम—महर्षि मेरे सब अपराधोंको क्षमा करो।

वाल्मीकि—मैं आशीर्वाद देता हूँ—तुम राम और सीता सुखसे रहो।

राम—सत्रह वर्षके बाद फिर मुझे पत्नी और पुत्र मिले हैं। सायंकालकी सुन्दर हवा, धीरे धीरे चल। वनदेवियो, तुम खिले हुए सुगन्धित फूलोंका सिंगार करके फूलरानी बनो। पक्षियो, तुम निकुंजोंमें मधुर स्वरसे गाओ। और, हे सायंकालके सूर्य, तुम अपनी सुनहली किरणोंसे वनभूमिको सुसज्जित कर दो। आज मुझे पत्नी और पुत्र मिले हैं। इस असीम सौभाग्यमें पहलेके सब दुःख लीन हो गये हैं—आज कैसे सुखका दिन है !

(भूकंप होता है।)

वाल्मीकि—यह क्या ! अकस्मात् बारंबार वेगसे पृथ्वी हिलने लगी ! पहाड़की दृढ़ स्थिर दीवार समुद्रकी जलराशिकी तरह हिल रही है !—वे बड़े बड़े बड़े सेमर आदिके पेड़ टूट टूट कर गिर रहे हैं; ऊँचे ऊँचे शिखर बालूके ढूहोंकी तरह फट रहे है ! सैकड़ों

टुकड़े—चूर चूर— होकर बड़ी बड़ी शिलाएँ नीचे गिर रही हैं ! जिसके बाल खुले हुए हों उस दुखिया स्त्रीकी तरह गंगा प्रबल प्रचण्ड अर्त्तनाद सा करती हुई दोनों किनारों पर जैसे पछाड़ें खा रही है—उन्मादिनीका रूप धारण किये हुए है ! क्षोभको प्राप्त विराट् पृथ्वीके भीतरसे गंभीर कड़कड़ाहट ऊपर उठ रही है !— यह क्या आज प्रलय काल उपस्थित है ? क्या आज ही सृष्टिका अन्त हो जायगा ?—आज क्या विश्वव्यापी ध्वंस होगा ?–यह क्या–यह क्या–पृथ्वी फट गई !

(सीताके पैरोंके नीचे पृथ्वीके दो टुकड़े हो जाते हैं और सीता उसी दरारके भीतर चली जाती है।)

सीता—पकड़ो नाथ —

राम—कहाँ हो प्रिये !

सीता—नाथ ! तुम कहाँ हो !

राम—(ऊँचे स्वरसे) सीता !

सीता—(पृथ्वीके भीतरसे) नाथ !

राम —कहाँ हो—कहाँ हो !

सीता—(क्षीण स्वर सुन पड़ता है) कहाँ हो तुम !

(वह दरार मिट जाती है। पृथ्वी फिर जैसी की तैसी हो जाती है।)

राम—यह क्या ? महर्षि ? अकस्मात् यह घना अन्धकार कैसा देख रहा हूँ—सीता कहाँ है ?

वाल्मीकि—पृथ्वीके भीतर ! वह राक्षसी सीताको लील कर अब स्थिर हो गई है।

राम—समझ गया, तो आज मेरे दुःखकी यही पूर्ण मात्रा है। समझ गया, कठिन भाग्यने छलपूर्वक छोड़कर सहसा कठिन भूतलमें दूर पर फेंक दिया। यह कोई बुरा सपना या इन्द्रजाल सा जान

पड़ता है। महर्षि, बता दीजिए, जानकी कहाँ है ?

वाल्मीकि--नहीं जानता, कहाँ है ! स्वर्गकी सुधा मनुष्यलोकके मिट्टीके बरतनमें आकर पड़ी थी; सो उड़ गई ! सन्ध्याकी किरणराशिने मेघके ऊपर पड़कर विचित्र इन्द्रधनुषकी रचना की थी, वह किरणराशि फिर उसी मेघके अंगोंमें लीन हो गई। सन्नाटेसे भरी आधीरातमें मूर्च्छनासे विकम्पित वंशीध्वनि उठी थी, वह फिर रात्रिके अन्धकारमें लीन हो गई। कमलका फूल डंडीसे टूटकर सूख गया और उसकी सुगन्ध उड़ गई। ग्रीष्मकी दीर्घश्वास वेणुकुंजमें उठकर लौट गई। शायद यह मनुष्य-भूमि उस देवीके चरण रखनेके योग्य नहीं थी--इसीसे वह यहाँसे चली गई ! मैं समझता हूँ कि संसारके कठिन रूखे व्यवहारको देखकर वह देवी रूठ गई है—बड़े अभिमानसे चल दी है ! अथवा वह इस विश्वमें नारीके महत्त्व, माधुरी, गौरव आदि गुण दिखानेके लिए आई थी—उसका वह कार्य समाप्त हो गया, इसीसे वह अपने पवित्र देशको चली गई !--उसी कारण वह देवी इस भूगर्भमें जाकर विश्वसे उठ गई !

राम--(उन्मत्तकी तरह) सीता ! सीता !--

प्रतिध्वनि—सीता ! सीता !

(पर्दा गिरता है।)